नई दिल्ली
रविवार, 18 जनवरी, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-14 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

ईरान में समाधान राजशाही का समर्थन कतई नहीं, पर विदेशी हस्तक्षेप की मांग और ज्यादा खतरनाक 3

लेखकों से कोई उम्मीद करना क्यों बेकार ही है 5

'दुआर' खड़ा किताबघर 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

यह तो मजदूरों को भेड़ियों के सामने फेंकने जैसा

अमेरिका की बढ़ती व्यापारिक मांगों के बीच जल्दबाजी में बनाए गए कानूनों से शहरी और ग्रामीण मजदूरों के अधिकार कमजोर होने जा रहे

अरुण कुमार

हाल ही में जिस तरह आनन-फानन संसद में दो बिल पेश करके उन्हें पास कराया गया, उसने जानकारों को हैरान कर दिया है। सत्ताधारी पार्टी को आखिर अचानक उन लेबर कोड्स को लागू करने की क्या जरूरत पड़ गई, जो 2019 और 2020 में बनाए गए थे? मनरेगा को वीबी-जीराम-जी से बदलने में इतनी जल्दबाजी क्यों की गई और यह इतने ढके-छिपे तरीके से क्यों किया गया? आम तौर पर संरचनात्मक सुधार और अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाने के अलावा इनका कोई खास मतलब नहीं होता।

हालांकि, इन दोनों कानूनों का मकसद अब साफ होता जा रहा है - ये मजदूरों की मोलभाव करने की ताकत को कम करते हैं और मजदूरी घटाते हैं। मजदूरों, किसानों और विपक्ष ने जल्दी ही इस बात को समझ लिया है, जिससे देश भर में विरोध प्रदर्शन शुरू हो गए हैं। ग्रामीण और शहरी भारत में 60 करोड़ से ज्यादा मजदूर हैं और अगर उन्हें प्रभावी ढंग से संगठित किया जाए तो उनका विरोध बहुत बड़ा हो सकता है।

बहरहाल, कुछ अहम सवाल बने हुए हैं: क्या सत्ताधारी पार्टी को इसके बुरे राजनीतिक नतीजे भुगतने पड़ेंगे? क्या ग्रामीण और शहरी मजदूर भी वही कर पाएंगे जो किसानों ने किया? क्या वे सरकार को उन दो बदलावों को वापस लेने के लिए मजबूर कर पाएंगे, जिन्हें उनकी ताकत कम करने के लिए बनाया गया है? लेबर कोड मजदूरों की मोलभाव करने की ताकत को कम करते हैं, ट्रेड यूनियनों को कमजोर करते हैं, और एक मजदूर को मालिक के शोषण से मिलने वाली सुरक्षा छीन लेते हैं।

इनकार नहीं कि मनरेगा में कमियां थीं, फिर भी इसने ग्रामीण गरीबों के रोजगार और आय को बढ़ाया। कम मजदूरी (अक्सर न्यूनतम मजदूरी से भी कम) और एक परिवार के एक वयस्क सदस्य को अधिकतम 100 दिन काम की सीमा (सालाना लगभग 20 दिन की मजदूरी प्रति सदस्य) के बावजूद, इसने महामारी जैसे संकट के समय आय अर्जित करने में मदद की। पैसे की कमी के कारण, इसने औसतन 100 दिन सालाना के वादे के मुकाबले सिर्फ 50 दिन का काम दिया, फिर भी हाशिये पर रहने वालों को राहत दी।

सरकार, बदलावों को सही ठहराते हुए तर्क दे रही है कि लेबर कोड मजदूरों के अधिकारों की रक्षा करेंगे और वीबी-जीराम-जी योजना में काम के दिन 100 से बढ़ाकर 150 करने से खेत मजदूरों को फायदा होगा। केन्द्र ने 2024-25 में आवंटन 86,000 करोड़ से बढ़ाकर 95,692 करोड़ करने का प्रस्ताव दिया है। लेकिन, राज्य कमजोर बजटीय स्थिति और भारी कर्ज के कारण 55,590 करोड़ रुपये खर्च नहीं कर पाते हैं, तो केन्द्र भी कम खर्च करेगा, जिससे कुल आवंटन 2024-25 के मुकाबले काफी कम हो जाएगा।

मांग-आधारित मनरेगा से आपूर्ति-बाधित स्कीम का यह बदलाव केन्द्र सरकार को आवंटन पर मनमर्जी करने की छूट देगा और राज्यों को उनकी रहमो-करम पर निर्भर रहना होगा। बदलावों को बेशक मजदूरों के पक्ष में दिखाने की कोशिश की जा रही है, लेकिन हकीकत यही है कि ये सुधार असल में कृषि और गैर-कृषि, दोनों क्षेत्रों के मजदूरों को कमजोर करने के लिए बनाए गए हैं। ऐतिहासिक रूप से, भारत में मजदूर आंदोलन कमजोर ही रहे हैं, क्योंकि 94 प्रतिशत कामगार असंगठित क्षेत्र में है। उनमें महंगाई के हिसाब से मजदूरी बढ़ाने की मांग करने, इसके लिए मोलभाव करने की ताकत नहीं है। इस क्षेत्र के जो भी आंकड़े हैं, वे संदिग्ध हैं क्योंकि ये पुराने हैं। उत्पादन में मजदूरी का कम और घटता हिस्सा अपनी कहानी खुद कह रहा है। ऊपर से तकनीकी प्रगति काम की उपलब्धता को कम कर रही है।

फोटो: गेटी इमेजेज

मजदूरी दक्षिण 24 परगना के एक गांव में मनरेगा के तहत मैंग्रोव नर्सरी में काम करती महिलाएं

*

सवाल यह उठता है कि अचानक मजदूरों को कमजोर करने का यह कदम क्यों उठाया गया? असली मुद्दा राष्ट्रपति ट्रंप की दादागिरी और भारतीय अर्थव्यवस्था के ऊपर पड़ रहे इसके नतीजे हैं। एक तरफ ज्यादा मजदूरी वाले निर्यात पर असर पड़ रहा है और दूसरी तरफ अमेरिका भारतीय कृषि के बड़े हिस्से को खोलने की मांग कर रहा है, जिसे अगर मान लिया गया, तो करीब 50 फीसद भारतीयों की आय पर बुरा असर पड़ेगा।

ये बदलाव भारतीय अर्थव्यवस्था के इन दोनों खतरों से निपटने की कोशिश करते हैं। नए लेबर कोड गैर-कृषि क्षेत्र की समस्याओं का सामना करते हैं जबकि वीबी-जीराम-जी कृषि क्षेत्र की चुनौती का। दोनों ही मामलों में, भारत सरकार राष्ट्रपति ट्रंप की मांगों का बोझ मजदूरों पर डालने की कोशिश कर रही है।

> क्या सत्ताधारी पार्टी को इसके बुरे राजनीतिक नतीजे भुगतने पड़ेंगे? क्या ग्रामीण और शहरी मजदूर भी वही कर पाएंगे जो किसानों ने किया? क्या वे सरकार को उन दो बदलावों को वापस लेने के लिए मजबूर कर पाएंगे, जिन्हें उनकी ताकत कम करने के लिए बनाया गया है?

भारतीय व्यवसायी चाहते हैं कि अमेरिका के साथ ट्रेड एग्रीमेंट जल्दी हो जाए। लेकिन ट्रंप की यह मांग कि भारत रूस से कच्चे तेल के आयात पर लगाम लगाए और कृषि क्षेत्र को खोले, राजनीतिक रूप से मुश्किल मुद्दे हैं। फिर भी, भारत ट्रंप की मांगों के आगे झुक रहा है। पिछले साल के बजट में कई आयात शुल्क में कटौती की गई, अमेरिका से ऊर्जा आयात बढ़ाया गया, रक्षा उपकरणों का आयात बढ़ाया गया और कपास पर आयात शुल्क हटा दिया गया।

संसद के हालिया शीत सत्र में जल्दबाजी में पास किया गया 'शांति' बिल, परमाणु उपकरण देने वाले की जिम्मेदारी कम करता है ताकि अमेरिकी आपूर्तिकर्ता भारत को सामान बेच सकें। वॉशिंगटन में आजकल इस बात की चर्चा है कि रूसी तेल आयात करने वाले देशों पर 500 फीसद तक टैरिफ लगाया जाए। ऐसे में कोई व्यापार संभव ही नहीं होगा।

भारतीय निर्यात अमेरिका के 50 फीसद तक टैरिफ लगने से गैर-प्रतिस्पर्धी हो गए हैं, जिससे निर्यातकों को प्रॉफिट मार्जिन घटाने और/या सैलरी में कटौती करने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। निर्यातक अपने ट्रेड का कुछ हिस्सा यूएई जैसे तीसरे देशों के जरिये कर रहे हैं, जहां टैरिफ कम है। लेकिन इसके लिए बिचौलियों को पेमेंट करना पड़ता है, जिससे प्रॉफिट मार्जिन पर असर पड़ता है।

पिछले कुछ महीनों में निर्यात में गिरावट के ट्रेंड से निर्यातकों को नुकसान हो रहा है। हालांकि, रुपये की कीमत में गिरावट से उन्हें कुछ राहत जरूर मिली है क्योंकि इससे रुपये की कीमत कम किए बिना डॉलर की कीमत कम हो जाती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए यह समझा जा सकता है कि आरबीआई डॉलर के मुकाबले रुपये को क्यों गिरने दे रहा है। लेकिन अगर ट्रंप भारतीय सामानों पर टैरिफ घटा देते हैं तो ये सारे झंझट खत्म हो जाएंगे। रूसी तेल कंपनियों पर प्रतिबंधों के कारण कच्चे तेल के आयात में कटौती हुई है। इससे पता चलता है कि अमेरिका के साथ व्यापार समझौता करना ही होगा और यह भी तकरीबन तय है कि उसके लिए कृषि क्षेत्र खोलना होगा। क्या कारोबारी दबाव में नीति निर्माता भारतीय कृषि और दूध बाजारों के हितों की बलि देंगे?

*

क्या भारतीय किसान भारी सब्सिडी का लाभ ले रहे ईयू और अमेरिकी किसानों से मुकाबला कर सकते हैं? सस्ते आयात से उत्पादों की कीमतें एमएसपी से भी नीचे चली जाएंगी, जिससे किसानों का नुकसान और बढ़ जाएगा। इसीलिए मजदूरी कम करना और इनपुट सब्सिडी बढ़ाना एक रणनीतिक कदम बन जाता है।

वीबी-जीराम-जी बिल खेती की मजदूरी को घटाता है। यह अमीर किसानों की मनरेगा को कमजोर करने की मांग के भी अनुकूल है, जिनके मुताबिक इससे मजदूरों की कमी हुई और मजदूरी भी बढ़ी। नया बिल कटाई और बुवाई के पीक सीजन में छूट देकर इस मांग को पूरा करता है। तो क्या अमीर किसानों को खुश होना चाहिए? नहीं, क्योंकि खेती की कम मजदूरी से होने वाला फायदा, सस्ते आयात की वजह से किसानों को होने वाले नुकसान से बहुत कम होगा।

कुल मिलाकर इसकी कोई गारंटी नहीं है कि ट्रंप- भारत के प्रति उनके मौजूदा रुख को देखते हुए- टैरिफ को भारत के प्रतिस्पर्धियों के बराबर कम करेंगे। अमेरिका भारत के साथ रणनीतिक भागीदारी से दूर होता जा रहा है। इस अनिश्चितता को देखते हुए क्या सरकार को कृषि क्षेत्र खोलने के बारे में सोचना भी चाहिए?

इसलिए, मजदूरों को कमजोर करना कोई हादसा नहीं। इसे जमीन तैयार करने के लिए बनाया गया है, और यह शायद ट्रंप के सामने अंततः हथियार डालने का एक संकेत है। कम मजदूरी और भारतीय कृषि क्षेत्र खुलने से भारत में असमानता बढ़ेगी, मांग कमजोर होगी, और निवेश, रोजगार और आर्थिक विकास दर पर बुरा असर पड़ेगा। इससे जाहिर है कि मजदूरों और किसानों को सबसे ज्यादा नुकसान होगा। हालांकि, उनकी मदद करने के बजाय, सत्ताधारी पार्टी ने बिजनेस के हितों की रक्षा करना चुना है। ■

अरुण कुमार जेएनयू में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे और 'इंडियन इकॉनमीज ग्रेटेस्ट क्राइसिस: इम्पैक्ट ऑफ द कोरोनावायरस एंड द रोड अहेड' के लेखक हैं।

छुपी तानाशाही का खामोश हमला

नागरिकों को 'पुनः आवेदन' को कहना एक संवैधानिक अधिकार को नवीकरणीय परमिट बना देना है

आनंद तेलतुंबडे

भारत निर्वाचन आयोग ने 27 अक्तूबर 2025 को देश के नौ राज्यों और तीन केन्द्र शासित प्रदेशों (बिहार में एक परीक्षण के बाद) में मतदाता सूचियों का विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर) शुरू किया। जनवरी 2026 की शुरुआत तक अनंतिम सूचियों से एक चौंकाने वाला नतीजा सामने आया: लगभग 6.5 करोड़ नागरिकों के नाम मतदाता सूची से हटाए जा चुके थे।

भारत में 1950 में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार लागू होने के बाद से पंजीकृत मतदाताओं की संख्या में इतनी बड़ी गिरावट कभी नहीं देखी गई- न कभी युद्धों के दौरान, न ही अकाल और न ही कोविड-19 महामारी के दौर में, जिसने लाखों लोगों की जान ले ली। मतदाता सूचियों से इतने बड़े पैमाने पर नामों का हटना ही अपने आप में संदेह उत्पन्न करने और इस समस्या के सामान्य कारणों को खारिज करने के लिए पर्याप्त है।

गणतंत्र के समक्ष यह सवाल अब महज प्रशासनिक नहीं बल्कि अस्तित्वगत है: कि अगर राज्य बिना ताजा जनगणना आंकड़ों के, संसद में कोई बहस किए बगैर, बिना किसी पारदर्शी मानदंडों और सार्थक उचित प्रक्रिया अपनाए 6.5 करोड़ नागरिकों के नाम मिटा सकता है, तो हम कैसे मान लें कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार एक अधिकार के तौर पर शेष भी है या कि महज एक संवैधानिक दिखावा मात्र बनकर नहीं रह गया है?

इतनी बड़ी संख्या में आई इस गिरावट को महज तीन ही स्थितियों से समझाया जा सकता है या ऐसा तीन ही हालात में संभव है: सामूहिक मृत्यु, सामूहिक प्रवासन या सामूहिक मताधिकार से वंचित होना।

भारत में ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है। कोविड-19 से होने वाली अतिरिक्त मौतों के सबसे व्यापक अनुमान भी, जिन्हें सरकार नहीं मानती, काफी कम हैं। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि महामारी का चरम कई वर्षों पहले बीत चुका है। अगर मृत्यु दर इसका कारण होती, तो मृत्यु दर उस समय चरम पर होनी चाहिए थी, न कि अब।

आंतरिक प्रवासन इस गुणा-गणित से बचने का कोई रास्ता नहीं देता। स्थान बदलने से कोई इंसान नागरिकता नहीं खोता; वह सिर्फ अपना स्थान बदलता है। प्रवासन से मतदाता पंजीकरण प्रक्रिया जटिल जरूर हो जाती है, लेकिन ऐसा भी नहीं होता कि इससे मतदाताओं की संख्या लाखों में कम हो जाए, जब तक कि व्यवस्था ही ऐसी न की गई हो कि वह प्रवासी लोगों को समायोजित करने के बजाय उन्हें बाहर का ही रास्ता दिखा दे।

> सवाल यह नहीं है कि चुनाव आयोग ने मतदाता सूची से नाम कैसे हटाए, बल्कि यह है कि निर्णय किसने लिया कि 6.5 करोड़ लोग मतदाता नहीं माने जाएंगे। लोकतंत्र में मान्यता है कि मतदाता बढ़ते हैं। एसआईआर इससे बिल्कुल विपरीत है

ऐसे में एक ही बात समझ में आती है, और वह यह कि यह मतदाताओं के साथ राजनीतिक छेड़छाड़ है। इसलिए असल सवाल यह नहीं है कि चुनाव आयोग ने यह नाम कैसे हटाए, बल्कि असल सवाल यह है कि 6.5 करोड़ मतदाताओं के नाम हटाने का यह फैसला किसका था और किस अधिकार के तहत तय हुआ कि ये लोग अब मतदाता नहीं माने जाएंगे।

मतदाता सूची का संशोधन एक नियमित लोकतांत्रिक प्रक्रिया है। नए मतदाता जोड़े जाते हैं, दस्तावेजों के आधार पर मृत मतदाता हटाए जाते हैं और त्रुटियां सुधारी जाती हैं। यह क्रमिक, सावधानीपूर्वक और मुख्य रूप से सतत जोड़ने की प्रक्रिया है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं मानकर चलती हैं कि मतदाताओं की संख्या बढ़ती है।

लेकिन एसआईआर इस तर्क से पूरी तरह अलग है। यह घटने की बात करता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह संवैधानिक तौर पर सबूत की बात को ही उलट देता है। यहां राज्य से नाम हटाने का आधार बताने के बजाय नागरिक से ही अपेक्षा की जा रही है कि वह अपने होने की पात्रता साबित करेगा।

यह उलटफेर महज सहज प्रक्रियात्मक बात नहीं, यह संवैधानिक तोड़फोड़ है। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के मूल में ही समावेशन की पूर्वधारणा है। यह राज्य की जिम्मेदारी है कि उसे मृत्यु, नागरिकता की पुनरावृत्ति या नागरिकता के खो जाने का प्रमाण देना होता है। एसआईआर इस पूर्वधारणा को ही संदेह से बदल देता है। मतदान नागरिकता से प्राप्त होने वाला अधिकार नहीं रह जाता, बल्कि एक प्रशासनिक विशेषाधिकार बन जाता है, जो दस्तावेजीकरण, समयसीमा और नौकरशाही के विवेक पर निर्भर करता है।

फोटो: गेटी इमेजेज

सुनवाई कोलकाता में विशेष गहन पुनरीक्षण के तहत सुनवाई के दौरान लोगों की मदद करते बूथ लेवल अधिकारी

एक ऐसा अधिकार जिसे समय-समय पर पुनः अर्जित करना पड़े, वह अधिकार नहीं रह जाता!

*

एक दशक से राष्ट्रीय जनगणना का न होना इस सामूहिक विलोपन का आकस्मिक कारण नहीं है, बल्कि यह इसकी सहायक स्थिति है।

जनगणना लोकतंत्र की मूलभूत आधारशिला है। इससे जनसांख्यिकीय तथ्य स्थापित होते हैं, जिनके आधार पर प्रतिनिधित्व, कल्याण और मतदाता सूचियों का सत्यापन किया जाता है। एक दशक से अधिक समय तक जनगणना न कराकर, सरकार ने इस आधारशिला को ही ध्वस्त कर दिया है। ऐसे में हमारे सामने अब कोई ऐसा आधिकारिक पैमाना नहीं है, जिसके आधार पर चुनाव आयोग के दावों का परीक्षण किया जा सके।

इस शून्य में संख्याएं एक भविष्यसूचक स्थिति का बयान भले बन जाएं, जो दावा आधारित हो सकता है, लेकिन प्रमाणित नहीं।

बेहद क्रूर विडंबना है। एक ऐसा राज्य जो नागरिकता साबित करने के लिए दस्तावेज मांगता है, अपनी ही आबादी का दस्तावेजीकरण करने से पीछे हट जाता है। कागजात भी चुनिंदा रूप से मांगे जाते हैं, कमजोर लोगों के खिलाफ हथियार के तौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं। जनगणना के आंकड़ों के बिना संचालित एसआईआर प्रक्रिया, संप्रभु शक्ति को अनुभवजन्य जवाबदेही से पूरी तरह अलग कर देती है।

जब राज्य बिना यह साबित किए कि 6.5 करोड़ लोग मर चुके हैं, देश छोड़कर चले गए हैं या उनकी नागरिकता समाप्त हो गई है, उन्हें मतदाता सूची से हटा सकता है, तो मान लेना चाहिए कि वह अब लोकतंत्र नहीं चला रहा है, बल्कि उसमें हेराफेरी कर रहा है।

शेष पेज 2 पर ▸

राज्य 360° पश्चिम बंगाल

कोलकाता

एसआईआर प्रक्रिया पर ममता बनाम आयोग

शिखा मुखर्जी

अभी यह साफ नहीं कि भारत के चुनाव आयोग ने असिस्टेंट इलेक्टोरल रजिस्ट्रेशन ऑफिसर (एईआरओ) मौसम सरकार के खिलाफ कोई अनुशासनात्मक कार्रवाई की है या नहीं। सरकार ने एसआईआर प्रक्रिया के खिलाफ सार्वजनिक रूप से अपना विरोध जताने के बाद 8 जनवरी को इस्तीफा दे दिया था।

मुख्य चुनाव आयुक्त को भेजे अपने इस्तीफे में ब्लॉक डेवलपमेंट ऑफिसर ने कहा कि बंगाल में 2002 के इंटेंसिव रिवीजन के दौरान नाम, हिज्जे और तारीखों से जुड़ी तमाम गलतियों को मतदाताओं ने चुनाव आयोग के नियमों के मुताबिक ही फॉर्म-8 भरकर ठीक करा लिया था। उम्र से जुड़ी गलतियों के मामलों में भी ऐसा ही हुआ था। उन्हीं गलतियों को अब 'तार्किक भूल' बताया जा रहा है। मौसम सरकार का कहना है कि इन आधार पर मतदाताओं को 'सुनवाई' के लिए बुलाना अनावश्यक और अनुचित है।

पश्चिम बंगाल के मुख्य चुनाव आयुक्त ने मीडिया को बताया कि चुनाव आयोग के कर्मचारी होने के नाते एईआरओ सरकार अपनी चिंताएं 'सही चैनलों' के जरिये उठा सकते थे। अपनी शिकायत को सार्वजनिक रूप से जाहिर करना गंभीर अनुशासनहीनता के दायरे में आता है और इसके लिए वह उचित सजा के पात्र बन जाते हैं।

जिद्दी एईआरओ का मामला उन तमाम मुद्दों में एक है जिन्हें मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने उठाया है। एसआईआर को लेकर बढ़ते टकराव के कारण मुख्यमंत्री ने जनवरी के पहले पखवाड़े में मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार को पांच चिट्ठियां लिखीं।

ममता ने भारतीय चुनाव आयोग और मुख्य चुनाव आयुक्त, दोनों पर आरोप लगाया है कि उन्होंने हटाए गए वोटर्स की सूची सिर्फ भाजपा को दी। उन्होंने बताया कि मुख्य चुनाव अधिकारी ने वाट्सएप पर प्रक्रिया बदलने के निर्देश दिए थे। इसके साथ ही ममता ने बताया कि बांकुरा समेत कई जिलों में गाड़ियों को रोका गया, जिनमें भाजपा नेता और पहले से भरे हुए हजारों फॉर्म (फॉर्म-7) थे, जिनका इस्तेमाल बड़ी संख्या में वोटर्स के नाम हटाने के लिए किया जाना था। अक्तूबर 2025 में जारी दिशानिर्देश में चुनाव आयोग ने कहा था कि कोई भी बीएलए (बूथ लेवल एजेंट) मसौदा सूची प्रकाशित होने से पहले हर दिन 50 से ज्यादा फॉर्म-7 एप्लीकेशन जमा नहीं कर सकता, और सूची प्रकाशित होने के बाद रोजाना 10 से ज्यादा नहीं।

ऐसे में सवाल उठता है कि हजारों फॉर्म कैसे ले जाए जा रहे थे और चुनाव आयोग ने सिर्फ पश्चिम बंगाल में ही माइक्रो-ऑब्जर्वर क्यों तैनात किए? तृणमूल कांग्रेस का मानना है कि माइक्रो-ऑब्जर्वर अधिकारियों पर नाम हटाने के लिए दबाव डाल जा रहा है। अगर एक बीएलओ को एसआईआर के दौरान हर वोटर के पास तीन बार जाना जरूरी है, और चुनाव आयोग को पहले ही भरे हुए और दस्तखत किए हुए एन्यूमरेशन फॉर्म मिल चुके हैं, तो वोटरों को 10-15 किलोमीटर या कई मामलों में उससे भी दूर स्थित ऑफिस में बुलाने का क्या मतलब है?

ममता ने लोगों से जमा किए गए कागजात की रसीद मांगने को कहा है और वरिष्ठ नागरिकों को 'सुनवाई' के लिए बुलाए जाने पर आपत्ति जताई है। जिन्हें बुलाया गया है, उनमें नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले कई खिलाड़ी, मशहूर कवि जॉय गोस्वामी, मुर्शिदाबाद के 104 साल के वोटर हारू शेख और मौजूदा और पूर्व सांसद शामिल हैं। यह हैरान करने वाली बात है कि इन लोगों को अपनी पहचान साबित करनी पड़ रही है और उन पिछली गलतियों को ठीक करना पड़ रहा है, जो चुनाव आयोग के ही अधिकारियों ने की थीं। इससे भी ज्यादा परेशान करने वाली बात यह है कि लाखों वोटर - जो वीआईपी नहीं हैं - उनके पास वेरिफिकेशन कराने के मुश्किल तरीके के अलावा विकल्प नहीं। इस साल असामान्य रूप से कड़ाके की ठंड ने परेशानी और बढ़ा दी है, कई वोटरों के कैंप में मरने की खबरें भी आई हैं। चुनाव आयोग द्वारा 54 लाख 'अनमैप्ड' वोटरों और 1.3 करोड़ 'तार्किक भूल' के मामलों की पहचान, और कैंप में फिजिकल वेरिफिकेशन पर जोर देने से भ्रम और अफरा-तफरी का माहौल है। वोटरों की अलग-अलग श्रेणी बनाकर चुनाव आयोग ने वेरिफिकेशन प्रक्रिया को एक दुःस्वपन्न में बदल दिया है।

ऐसी भी खबरें हैं कि कुछ खास निर्वाचन क्षेत्रों में वोटरों की भीड़ को चुनिंदा तरीके से वेरिफिकेशन और सुनवाई के नोटिस जारी किए गए हैं, यह आरोप माकपा के प्रदेश सचिव मोहम्मद सलीम ने लगाया है। इसके अलावा, रिपोर्ट्स से पता चलता है कि गाड़ियां भर-भरके फॉर्म-7 और 8 मिले हैं, जिनका इस्तेमाल वोटर का नाम शामिल करने पर आपत्ति जताने और विवरण में सुधार के लिए किया जाता है।

पिछली गिनती के अनुसार, 1.3 करोड़ वोटरों में से सिर्फ 6.6 फीसद के मामलों को ही आयोग ने निपटाया है, जिनकी 'सुनवाई' होनी है और जिनकी 'पहचान करके उनके नाम सूची से हटाया या देश से निकाला' जाना है या वोटर लिस्ट में फिर से शामिल किया जाना है। 7 फरवरी की समयसीमा नजदीक होने की वजह से ममता बनर्जी ने इसे बढ़ाने की मांग की है।

भाजपा ने तृणमूल कार्यकर्ताओं पर बूथ लेवल अधिकारियों को डराने-धमकाने का आरोप लगाया है और उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करने में नाकाम रहने के लिए चुनाव आयोग की आलोचना की है। ■

विरोध उत्तर 24 परगना में प्रदर्शन करतीं मुख्यमंत्री ममता बनर्जी

> ममता ने आरोप लगाया है कि हटाए गए वोटर्स की सूची सिर्फ भाजपा को दी गई। कई जिलों में कई गाड़ियां पकड़ी गईं जिनमें भाजपा नेता और पहले से भरे फॉर्म थे

छुपी तानाशाही का खामोश हमला

पेज एक का शेष

प्रशासनिक प्रक्रियाएं कभी भी तटस्थ सामाजिक परिवेश में संचालित नहीं होतीं। इनमें समाजशास्त्र समाहित होता है। अब सफल कौन होता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किसके पास दस्तावेज हैं, स्थायी पता-ठिकाना है, औपचारिकताएं समझने लायक साक्षरता है, त्रुटियों पर आपत्ति जताने का समय है और जिंदगियां हैं जो ऐसे दस्तावेजी प्रमाण छोड़ते हैं जो राज्य की नजरों में वैध हैं।

किन लोगों के नाम हटने का खतरा सबसे ज्यादा है, यह अनुमान लगाना कोई बड़ी बात नहीं: प्रवासी श्रमिक जिनका पता बार-बार बदलता रहता है; अनौपचारिक आवासों में रहने वाले शहरी और ग्रामीण गरीब; दलित और आदिवासी जिनके बहिष्कार का लंबा अतीत है और बहुत कम दस्तावेजी रिकॉर्ड में दर्ज है; मुसलमान जिनकी नागरिकता एनआरसी-सीएए की चर्चा के कारण हमेशा संदिग्ध बनी हुई है; अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिक जिनका श्रम नौकरशाही में कोई रिकॉर्ड नहीं छोड़ता; और ऐसे नागरिक जिनका अनिश्चित जीवन आधुनिक शासन व्यवस्थाओं की मांग के अनुरूप कागजी कार्रवाई की जमीन ही नहीं बना पाता।

यह समाज का वही हिस्सा है जिन्हें अपने में शामिल करने में भारतीय लोकतंत्र को हमेशा से ही कठिनाई रही है और जो सत्ताधारी ताकतों के लिए चुनावी दृष्टि से असुविधाजनक हैं। ये सत्ताधारी दलों के खिलाफ भारी संख्या में मतदान करते हैं, राष्ट्रवादी आंदोलनों का विरोध करते हैं और कल्याणकारी योजनाओं का लाभ भी सबसे कम इन्हीं को मिलता है। ऐसे में इनका मतदाता सूची से सबसे पहले गायब हो जाना न तो संयोग है और न ही आकस्मिक घटना।

पुनर्परिभाषित की जा रही नागरिकता

मतदान का अधिकार अब प्रशासन की संतुष्टि के अनुरूप नागरिकता साबित होने पर निर्भर करता है। यह परिवर्तन बिना किसी संसदीय बहस, बिना कोई कानून बनाए या संवैधानिक संशोधन के हुआ है। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार कागज पर तो बरकरार है, लेकिन परिपत्रों, सत्यापन प्रोटोकॉल और प्रशासनिक आदेशों के माध्यम से व्यवहार में खोखला होता जा रहा है।

असल संकट संस्थागत है। चुनाव आयोग की परिकल्पना बहुमतवाद का निषेध करने वाली (प्रति-बहुमतवादी) संस्था के रूप में की गई थी, और जिसे कार्यपालिका के हस्तक्षेप से चुनावी निष्पक्षता की रक्षा का दायित्व सौंपा गया था। इसकी शक्ति संयम और निष्पक्षता के माध्यम से अर्जित जनविश्वास पर आधारित थी।

अब यह सब अतीत की बात है। उस अधिकार की वैधता गंभीर रूप से खतरे में है। जनगणना के आंकड़ों, पारदर्शी मानदंडों या विश्वसनीय सार्वजनिक औचित्य के बिना बड़े पैमाने पर डेटा हटाने की प्रक्रिया का नेतृत्व करके- जिसका शिकार मुख्य रूप से हाशिये पर रहने वाली आबादी होती है, आयोग ने एक तटस्थ रेफरी की अपनी भूमिका को तिलांजलि दे दी है। नियुक्तियों में गड़बड़ी और चापलूसी की आंतरिक संस्कृति के रास्ते संस्थागत नियंत्रण ने इसे मतदाता प्रणाली को पुनर्परिभाषित करने की एक परियोजना में भागीदार बना दिया है।

यह पैटर्न एसआईआर से कहीं आगे तक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है: आदर्श आचार संहिता लागू करने में भेदभाव, सत्ताधारी दल द्वारा उल्लंघन पर नरमी, भड़काऊ बयानबाजी पर चुप्पी और चुनावी बांड जैसे मामलों में अनुपालन के उदाहरण।

समर्थकों का तर्क है कि आपत्तियों और पुनः सत्यापन के माध्यम से विलोपन या हटाए गए वोटों को सुधारा जा सकता है। यह सही नहीं है। समस्या त्रुटि नहीं, बल्कि सुनियोजित प्रक्रिया है। इसकी व्यापकता से बड़े पैमाने पर मतदान से वंचित होना सुनिश्चित होता है; इसकी गति सत्यापन को असंभव बनाती है; इसकी अपारदर्शिता जांच में बाधक है; और इसका बोझ उन लोगों पर पड़ता है जो इसे वहन करने में सर्वाधिक कमजोर हैं।

पहले मतदान के अधिकार से वंचित करना, फिर उपाय बताना अधिकारों की रक्षा करना नहीं, बल्कि उनके उल्लंघन को स्वीकार करना है। 6.5 करोड़ नागरिकों को अपने वोट के लिए 'पुनः आवेदन' करने के लिए कहना एक संवैधानिक अधिकार को नवीकरणीय परमिट में बदलने जैसा है।

यह 'उपाय' अपने आप में असमानता को बढ़ावा देने वाले हैं। इनके लिए साक्षरता, समय, धन, पहुंच और दृढ़ता की आवश्यकता होती है, और यह वे संसाधन हैं जो वंचितों के पास नहीं होते।

अंततः, जिस चीज में संशोधन किया जा रहा है, वह मतदाता सूची नहीं है, बल्कि यह ज्यादा मायने रखता है कि कौन किससे संबंधित है। यहां राजनीतिक तर्क स्पष्ट है। आबादी के बड़े हिस्से को कल्याणकारी योजनाओं के जरिये 'नियंत्रित' किया जाता है। खाद्य राशन, नकद हस्तांतरण, आवास योजनाएं और ईंधन सब्सिडी कार्यकारी अनुग्रह के तौर पर दी जाती हैं।=

ऐसी शासन व्यवस्था में, मतदान बेमतलब और कभी-कभी असुविधाजनक भी हो जाता है। कल्याणकारी योजनाओं पर निर्भरता के कारण कथित तौर पर 'अनुशासित' आबादी कृतज्ञता के बजाय शिकायतों के आधार पर मतदान कर सकती है, जीवनयापन योजनाओं से मिलने वाली सुविधाओं से ज्यादा की मांग कर सकती है या उन ताकतों के साथ खड़ी हो सकती है जो वितरण और वैचारिक व्यवस्था को चुनौती देती हैं। एक ऐसी शासन व्यवस्था के लिए जो सुनियोजित 'उदारता' के हथियार से शासन करती है, चुनावी स्वायत्तता एक बोझ बन जाती है।

इसलिए, मतदाता सूचियों से बड़े पैमाने पर नामों का हटाया जाना कल्याणकारी राजनीति का विरोधाभास नहीं, बल्कि उसका तार्किक पूरक है। जो लोग मतदान नहीं कर सकते, शासन तो उन पर भी किया जा सकता है; और जिनके पास चुनावी शक्ति नहीं है, लाभ वे भी हासिल कर सकते हैं। दरअसल, लाभ जब राजनीतिक नफा-नुकसान से अलग होकर प्रशासनिक रूप से दिए जाने लगते हैं, तो उनका प्रबंधन आसान हो जाता है। ऐसी व्यवस्था का आदर्श पात्र 'नागरिक' नहीं होते, वह दरअसल 'लाभार्थी' होता है, जो आज्ञाकारी, आभारी और मौन रहता है।

नतीजा यह कि इससे एक निर्णायक बदलाव सामने आता है। लोकतंत्र यह मानता है कि सत्ता नागरिकों से राज्य की ओर प्रवाहित होती है; कि सरकारें चुनावों के माध्यम से जवाबदेह होती हैं; और कि मतदान लोगों को ताकतवर बनाता है।

फ़िलहाल जो हो रहा है, इसमें विशेष रूप से खतरनाक बनाने वाली बात इसका प्रक्रियात्मक छलावा है। न तो आपातकाल की घोषणा हुई है, न ही संविधान निलंबित हुआ है, और न ही सड़कों पर टैंक दिखाई दे रहे हैं। बल्कि, यहां तो डेटाबेस, सत्यापन प्रोटोकॉल और प्रशासनिक लिखा-पढ़ी का हथकंडा अपनाकर एक खामोश हमला हुआ है।

लोकतंत्र की जिस बुनियाद को मजबूत करने में सात दशकों की मेहनत और समर्पण लगा, उसे आज तकनीकी बाध्यताओं की आड़ लेकर तहस-नहस किया जा रहा है। यह छुपी हुई तानाशाही है।

तकनीकी ढांचे की बात कोई संयोग नहीं है। जब मताधिकार से वंचित किए जाने को राजनीतिक बहिष्कार के बजाय चुनावी 'सफाई अभियान' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो प्रतिरोध की धार कमजोर पड़ जाती है। नागरिकों द्वारा लिपिकीय त्रुटि के रूप में वर्णित अधिकारों के नुकसान को आसानी से स्वीकार कर लिए जाने की संभावना ज्यादा रहती हैं। प्रशासनिक भाषा जानबूझकर किए गए लोकतांत्रिक नुकसान को कमतर आंकती है।

सीधा-सीधा दमन और घोषित आपातकाल प्रतिरोध को भड़काते हैं; प्रक्रियात्मक सामान्यीकरण ऐसा नहीं करता। जब स्प्रेडशीट के जरिये लाखों लोग मतदाता सूचियों से गायब हो जाते हैं, तो यह परिवर्तन आक्रोश की सीमा से नीचे होता है, और धीरे-धीरे तब तक बढ़ता रहता है, जब तक कि इसे पलटना राजनीतिक रूप से अकल्पनीय न हो जाए। सार्वभौमिक मताधिकार हमारे गणतंत्र का औपनिवेशिक शासन से पहला और निर्णायक विभाजन था- वह सिद्धांत जिसने प्रजा को नागरिक बनाया और जनता के मत को वैधता का स्रोत। जब प्रशासनिक कार्रवाई के माध्यम से लाखों-करोड़ों लोग मतदान के अधिकार से वंचित हो जाते हैं, तो वह आधार ही भंग हो जाता है। अब अहम सवाल यह नहीं है कि चुनाव जीतेगा कौन, बल्कि यह है कि चुनाव में भाग लेने की अनुमति मिलती किसको है जो लोकतंत्र असुविधाजनक मतदाताओं को बाहर करके शुरुआत करते हैं, वे शायद ही कभी वहीं रुकते हैं। वे प्रक्रियात्मक चरणों का पालन करते हुए कदम दर कदम आगे बढ़ते हैं।

6.5 करोड़ मतदाताओं को हटा देना एक संवैधानिक संकट है। जब मतदाता हटाए जाने योग्य मान लिए जाएं, नागरिकता अस्थायी हो जाए और अधिकार प्रक्रिया के जरिये निरस्त किए जाने लगें, तो लोकतंत्र महज एक खोखला ढांचा बनकर रह जाता है। उसकी भाषा तो बरकरार रहती है, लेकिन उसका सार गायब हो जाता है। ■

आनंद तेलतुंबडे लेखक और नागरिक अधिकार कार्यकर्ता हैं।
thewire.com की अनुमति से पुनः प्रकाशित।

मदद एसआईआर प्रक्रिया के तहत सुनवाई के दौरान लोगों की मदद करते बूथ लेवल अधिकारी

राज्य 360° पंजाब

चंडीगढ़

अकाल तख्त पर मुख्यमंत्री की पेशी से गरमाया मुद्दा

हरजिंदर

पंजाब के राजनीतिक रंगमंच पर साल के पहले हफ्ते से ही सबसे गर्म मुद्दा था मुख्यमंत्री भगवंत मान की अकाल तख्त के सामने पेशी। मान से जुड़े कई विवादों के चलते अकाल तख्त ने उन्हें तलब किया था। ज्यादातर आरोपों के पीछे मान का बड़बोलापन था। अकाल तख्त का मानना था कि इन बयानों में उन्होंने सिख धर्म की मर्यादा का उल्लंघन किया है। उनके उस अपमानजनक वीडियो को लेकर भी अकाल तख्त सफाई चाहता था जिसे मान और उनकी पार्टी फेक बता रहे थे।

यह मान और उनकी पार्टी के सामने नई तरह की चुनौती थी। शुरुआत में ऐसा लगा कि वह समझ ही नहीं पा रहे कि इसका मुकाबला कैसे किया जाए। पार्टी के एक प्रवक्ता ने तो यह तक कह दिया कि अकाली दल शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी को एक राजनीतिक औजार की तरह इस्तेमाल कर रहा है।

खुद मान ने भी शर्त रखी कि उनकी पेशी का लाइव प्रसारण किया जाए। इसे रियलिटी शो बनाने की यह शर्त अकाल तख्त ने नहीं मानी। फिर हालात की नजाकत को देखते हुए पार्टी के बागी सुर भी ठंडे पड़ गए और मान का यह बयान आया कि वह नंगे पांव अकाल तख्त जाएंगे।

पंजाब के लिए यह कोई नई बात नहीं है। अतीत में पंजाब के चार मुख्यमंत्रियों और यहां तक कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह को भी अकाल तख्त तलब कर चुका है। इस बार फर्क यह था कि मुख्यमंत्री मान को पहले की तरह तख्त की फसील पर बुलाने के बजाय उन्हें अकाल तख्त के सचिवालय में पेश होने का हुक्म दिया गया। तर्क यह दिया गया कि मान अमृतधारी और पूर्ण सिख न होकर 'पतित' सिख हैं, इसलिए उन्हें अकाल तख्त की फसील पर नहीं बुलाया जा सकता।

इससे एक नई बहस शुरू हो गई कि क्या हर वह सिख जो अमृतधारी नहीं है, पतित सिख कहा जा सकता है? दूसरी तरफ एसजीपीसी की पूर्व अध्यक्ष बीबी जागीर कौर ने कमेटी के. वर्तमान अध्यक्ष हरजिंदर सिंह धामी और अकाल तख्त के जत्थेदार कुलदीप सिंह गरगज को चिट्ठी लिखकर कहा कि यह पेशी सिख धर्म की मर्यादा का उल्लंघन है, क्योंकि अकाल तख्त अमृतधारी सिख को ही तलब कर सकता है।

15 जनवरी को मान जब अकाल तख्त पहुंचे तो उनके साथ ही दो भरे हुए बैग भी थे। बताया गया कि इनमें वह अपनी बेगुनाही के सबूत साथ ले गए थे। बाद में जत्थेदार गरगज ने प्रेस कांफ्रेंस में बताया कि मुख्यमंत्री पूरी विनम्रता से पेश आए और कई आरोपों पर उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की कि उन्हें इस तरह के बयान नहीं देने चाहिए थे।

मुख्यमंत्री की इस पेशी के साथ ही राजनीतिक चर्चा खत्म हो गई। हालांकि कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। मान की इस पेशी का पूरा ब्योरा अब पांच सिख साहिबान के सामने पेश किया जाएगा। वहां यह तय होगा कि उन्हें सजा दी जाए या बरी कर दिया जाए।

धार्मिक मेले में चुनावी कवायद

मुक्तसर साहिब का मशहूर सालाना माघी मेला इस बार राजनीति का मंच बन गया। कांग्रेस को छोड़कर बाकी सभी दलों ने इस मौके पर अपने-अपने पंडाल सजाए और सम्मेलन किए। मुक्तसर की लड़ाई में शहीद हुए 40 मुक्तों की याद में मनाए जाने वाले इस धार्मिक और सांस्कृतिक आयोजन से जो खबरें सामने आईं, वे ज्यादातर राजनीतिक ही थीं। सबसे बड़ा आयोजन आम आदमी पार्टी ने किया। उसके आलीशान पंडाल और 1600 बसों के इंतजाम की चर्चा मीडिया में पहले ही शुरू हो गई थी। मुख्यमंत्री मान और मंत्रिमंडल के सहयोगियों के अलावा पार्टी के नेता मनीष सिसोदिया भी मंच पर थे। मान ने एसजीपीसी के गुरु ग्रंथ साहिब के खोए हुए 328 स्वरूपों में से 169 का पता लगाने की बात कह कर मीडिया में सुर्खियां बटोरने का काम किया।

आप ने 2016 के माघी मेले में भी इसी तरह का आयोजन किया था। तब वह पंजाब के लिए एक नई पार्टी थी और यह आयोजन उसका लांच पैड बना। अब 2027 के लिए भी यही उम्मीद बांध कर पार्टी मुक्तसर साहिब के मैदान में उतरी थी।

सुखबीर बादल की अगुवाई वाला अकाली दल भी पीछे नहीं था। जब सुखबीर बादल बोलने के लिए खड़े हुए तो उन्होंने वादों की झड़ी ही लगा दी। एक तरह से उन्होंने अगले विधानसभा चुनाव के लिए पार्टी का घोषणापत्र ही पढ़ डाला।

पहली बार ऐसे किसी मौके पर भाजपा ने भी अपना अलग से मंच सजाया। मंच पर केन्द्रीय मंत्री अनुराग ठाकुर, रवनीत सिंह बिट्टू और पंजाब बीजेपी अध्यक्ष सुनील जाखड़ के अलावा केसरिया पगड़ी में सजे हरियाण के मुख्यमंत्री नायब सिंह सैनी भी मौजूद थे। सैनी पिछले कुछ समय से पंजाब के तकरीबन सभी धार्मिक आयोजनों में इसी वेशभूषा में मौजूद रहते हैं। राजनीतिक हलकों में यह चर्चा आम है कि भाजपा सैनी की मदद से पंजाब में पैर जमाने की कोशिश कर रही है। मंच से सिर्फ डबल इंजन के गुण ही गाए गए। लेकिन पार्टी उतनी भीड़ नहीं जुटा सकी जितनी वहां बाकी आयोजनों में थी। सिमरनजीत सिंह मान की पार्टी अकाली दल अमृतसर और एनएसए के तहत असम के डिब्रूगढ़ की जेल में बंद सांसद अमृतपाल सिंह की पार्टी वारिस पंजाब दे ने भी अपनी अपनी सभाएं कीं।

सिर्फ कांग्रेस ही थी जिसने इस मौके पर कोई आयोजन नहीं किया। पार्टी ने अकाल तख्त के 2017 के एक हुक्मनामे का हवाला दिया जिसमें कहा गया था कि धार्मिक अवसरों पर राजनीतिक आयोजन नहीं किए जाने चाहिए। पार्टी के पंजाब अध्यक्ष अमरिंदर सिंह राजा वड़िंग ने इतना कहा कि 'उनकी पार्टी धर्म और राजनीति को मिलाने में विश्वास नहीं करती।'

माघी मेले में हालांकि कांग्रेस अनुपस्थित थी, लेकिन आगे की राजनीति में पार्टी का दांव काफी बड़ा है। चुनाव में अभी एक साल है और तब तक सभी को पंजाब की जमीन पर ही मेहनत करनी होगी। ■

पेशी अकाल तख्त साहिब के समक्ष पेश मुख्यमंत्री मान

प्रकाशक: पवन कुमार बंसल; संपादक: राजेश झा; पवन कुमार बंसल द्वारा दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली- 11002 की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रित। दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 और द्वारा आर. सी. मल्होत्रा, दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से मुद्रित।

राज्य 360° उत्तराखंड

‘देवभूमि’ पर मानव तस्करी और यौन व्यापार का ग्रहण

रश्मि सहगल

अंकिता भंडारी की 2022 में हुई हत्या को लेकर दिसंबर 2025 में भड़का आक्रोश नए साल तक जारी रहा। उन्नीस साल की उस बच्ची ने एक वीआईपी के साथ यौन संबंध बनाने से इनकार क्या कर दिया, उसकी हत्या हो गई लेकिन यह हत्याकांड उस दीर्घकालिक सपने के टूटने का प्रतीक बन गया, जो उत्तराखंड के जनमानस ने लंबे समय से संजो रखा था।

लगातार चले लंबे आंदोलन के बाद 25 वर्ष पूर्व आकार लेने वाले उत्तराखंड का उद्देश्य गांधीवादी स्वशासन की परिकल्पना को साकार करना था। लेकिन हुआ इसका उलटा। आज यह राज्य घोर व्यवसायीकरण के साथ एक ऐसे विकास मॉडल की गिरफ्त में है जिसने कृषि को चौपट कर दिया है, घर तबाह हैं और सामाजिक ताना-बाना कमजोर कर दिया है।

अंकिता की हत्या भाजपा मंत्री विनोद आर्य के बेटे और वनंतरा रिसॉर्ट के मालिक पुलकित आर्य ने की थी, जहां वह बतौर रिसेप्शनिस्ट काम करती थी। पुलकित को दोषी ठहराए जाने के बाद, रिसॉर्ट के कर्मचारियों ने खुलेआम इस रिसॉर्ट को ड्रग्स, शराब और वेश्यावृत्ति का अड्डा बताया।

यह सब जनता के जेहन में गहरे बैठे भय की पुष्टि करने को पर्याप्त था। आज हालत यह है कि राज्य भर में हजारों रिसॉर्ट और होम-स्टे खुल गए हैं और इनमें से अनेक राजनेताओं और सेवानिवृत्त नौकरशाहों के हैं। आम धारणा है कि यह सब वेश्यावृत्ति के ऐसे केन्द्र हैं जहां युवा लड़कियों को बहला-फुसलाकर और बाद में ब्लैकमेल करके यौनकर्मी बनने को बाध्य किया जाता है।

अंकिता के आने से पहले वनंतरा में बतौर रिसेप्शनिस्ट काम करने वाली ऋषिता ने कहा, “मुझे लगा कि वे मुझे इसमें (यौन कार्य में) धकेलना चाहते थे। मैं सहमत नहीं हुई तो मुझे गंदी-गंदी गालियों के साथ प्रताड़ित किया गया।”

नौकरी शुरू करने के दो महीने बाद ही ऋषिता और उसके पति विवेक ने इस्तीफा दे दिया। पुलकित आर्य ने वेतन तो नहीं ही दिया, उलटे विवेक पर चोरी का आरोप लगा दिया। विवेक शिकायत दर्ज कराने पुलिस के पास गया, तो उसे इलाके की कानून व्यवस्था से जुड़े पटवारी से मिलने को कहा गया। पटवारी ने पुलकित का ही पक्ष लिया।

अंकिता के माता-पिता के साथ उनकी हर लड़ाई में साथ खड़ी उत्तराखंड महिला मंच की कमला पंत इस राज्य के थाईलैंड की राह चल पड़ने को लेकर चिंतित हैं। थाईलैंड में वेश्यावृत्ति गैरकानूनी भले हो, लेकिन गो-गो बार, मसाज पार्लर और नाइट क्लबों में खुलेआम चलती है।

“हमें डर है कि राजनेता इस तरह के अड्डे स्थापित करना चाहते हैं। यौन व्यापार बढ़ रहा है, और यहां तक कि छोटी-छोटी किराना दुकानों को भी शराब बेचने को प्रोत्साहित किया जा रहा है। उत्तराखंड कभी एक शांत जगह हुआ करती थी, जहां लोग सेवानिवृत्ति के बाद रहने आते थे। अब यह सस्ते से लेकर महंगे तक हजारों रिसॉर्ट्स, होटलों और होमस्टे से भरा एक अनैतिक अड्डा बन चुका है।”

देहरादून के राजपुर रोड पर एक छोटा बुटीक होटल चलाने वाले होटल मालिक का कहना है, “इन दिनों जोड़े घंटे के हिसाब से कमरे किराये पर लेना चाहते हैं। यह छोटे होटल मालिकों के लिए फायदेमंद भी है क्योंकि इससे कमाई में तेजी आती है।”

अंकिता भंडारी (दाएं) हत्या मामले में दोषी करार पुलकित आर्य

*

आधिकारिक आंकड़े उत्तराखंड में मानव तस्करी में चिंताजनक वृद्धि की पुष्टि करते हैं। चेतावनी देने वाले ऐसे संकेत 2016 में ही दिखने लगे थे, जब उत्तराखंड परिवर्तन पार्टी की महिला शाखा ने इस मुद्दे पर जागरूकता फैलाने के लिए मोमबत्ती जुलूस निकाला था। अल्मोड़ा जिले की कई महिलाएं अपने घरों से लापता हो गईं थीं। कार्यकर्ताओं का मानना है कि इनमें से कई महिलाओं को यौन शोषण के धंधे में धकेल दिया गया। मार्च के दौरान ही देहरादून के एक आश्रय गृह के प्रबंधन के साथ कथित तौर पर मिलीभगत करके कुछ प्रभावशाली लोगों द्वारा मजबूर महिलाओं का यौन शोषण किए जाने की बात भी सामने आई थी।

2016 और 2022 के बीच यौन अपराधों से बाल संरक्षण अधिनियम (पीओसीएसओ) के तहत दर्ज युवा महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों में चार गुना वृद्धि हुई। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के अनुसार हिमालयी राज्यों में बलात्कार के सबसे अधिक मामले उत्तराखंड में दर्ज हुए और 2023 में ‘पोक्सो’ के सबसे ज्यादा मामले भी यहीं दर्ज हुए। हिन्दू चरमपंथी समूहों के दबाव में पुलिस अंतरधार्मिक संबंधों में मुस्लिम किशोरों को निशाना बनाने के लिए भी इस कानून का खुला दुरुपयोग कर रही है।

एनसीआरबी द्वारा जारी आंकड़े बताते हैं कि पिछले वर्षों की तुलना में 2024 में अपहरण, हत्या और चोरी के मामलों में चिंताजनक वृद्धि हुई है। इस अपराध वृद्धि का ब्योरा देते हुए, आरटीआई कार्यकर्ता और वकील नदीम उद्दीन ने बताया, “चोरी में 9 प्रतिशत, हत्या के मामलों में 5 प्रतिशत, हत्या के इरादे से अपहरण में 100 प्रतिशत और महिलाओं के अपहरण में 91 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अपहरण के इससे इतर प्रकार के मामलों में 2022 से 144 प्रतिशत की भारी वृद्धि हुई है।”

महिलाओं के खिलाफ अपराधों में वृद्धि के साथ-साथ शराब की बिक्री में भी अभूतपूर्व तेजी आई है। आबकारी विभाग के आंकड़ों के अनुसार, 2025 में दीपावली के पखवाड़े के दौरान राज्य भर में 6.67 लाख से अधिक शराब की बोतलें बिकीं। इससे 367 करोड़ रुपये से अधिक का राजस्व प्राप्त हुआ, जबकि अकेले नव वर्ष की पूर्व संध्या पर 143 करोड़ रुपये की बिक्री हुई। शराब राज्य का सबसे बड़ा आय का स्रोत बनकर उभरा है, जिससे 3,353 करोड़ रुपये की आय हुई है और जो 2024 की तुलना में लगभग 200 करोड़ रुपये ज्यादा है। यह सही है कि राज्य सरकार उत्तराखंड के निवासियों को थोक के भाव से शराब लाइसेंस जारी कर रही है, लेकिन 2025-26 की नई उत्पाद शुल्क नीति के तहत, धार्मिक स्थलों के पास स्थित शराब की सभी दुकानें बंद कर देने की घोषणा भी की गई है।

एम्स ऋषिकेश की टीम ने 400 व्यक्तियों के साथ बातचीत करने के आधार पर जारी एक अध्ययन में देहरादून और हरिद्वार जिलों में शराब के सेवन की बढ़ती समस्या पर प्रकाश डाला है। 2018 में प्रकाशित इस अध्ययन में पाया गया कि शराब का सेवन करने वालों में सबसे बड़ा अनुपात 30 से 49 वर्ष की आयु वर्ग का था, जिनमें 72 प्रतिशत पुरुष और 28 प्रतिशत महिलाएं शराब की लत से जूझ रही थीं।

*

पिछले पांच वर्षों में यह समस्या और गंभीर हुई है। गढ़वाल के पहाड़ी गांवों की महिलाओं ने खुद पहल करते हुए महिला मंगल दल बनाए हैं ताकि उनके गांव में शराब की बिक्री या सेवन पर रोक लगाई जा सके। दिसंबर 2025 में, हल्द्वानी के एक निजी स्कूल की एक छात्रा को अचानक तलाशी के दौरान पानी की बोतल में वोदका के साथ पकड़ा गया। स्कूल के प्रधानाचार्य डॉ. युवराज पंत ने स्वीकार किया कि वरिष्ठ छात्रों में शराबखोरी और धूम्रपान तेजी से बढ़ा है।

यहां के युवा और किशोर भी नशे के लती बन सकते हैं। उत्तराखंड की भौगोलिक स्थिति ही ऐसी है कि यहां नशीले पदार्थ आसानी से उपलब्ध हैं, क्योंकि यह नशीले पदार्थों की तस्करी का पारगमन मार्ग भी है। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ साइंस एंड रिसर्च में प्रकाशित एक अध्ययन से पता चला है कि कुमाऊं क्षेत्र में, माध्यमिक विद्यालय के लगभग 26 प्रतिशत छात्र सिंथेटिक ड्रग्स और ओपिओइड सहित नशीले पदार्थों के आदी हैं।

किशोरवय लड़के-लड़कियां आर्थिक अवसरों की तलाश में अपने गांवों से निकलकर बड़े शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं, जिससे पारिवारिक संरचना बिखर गई है। लिंग अनुपात भी तेजी से गिरा हैः वर्तमान में प्रति 1,000 लड़कों पर 840 लड़कियां हैं, जो भारत में सबसे खराब स्थितियों में से एक है। अनुभव बताते हैं कि समाज में लड़कियों को महत्व नहीं मिलता, तो जीवन एक कठिन चुनौती बन जाता है जहां हिंसा, जबरन विवाह, तस्करी और सीमित विकल्पों से भरी हुई तमाम बुराइयां पैदा हो जाती हैं।

कांग्रेस प्रवक्ता सुजाता पॉल जोर देकर कहती हैं कि, “यौन शोषण और सेक्स ट्रैफिकिंग” बड़े पैमाने पर फैल चुके हैं। उन्होंने कहा, “वनंतरा का उदाहरण लीजिए। आर्य परिवार को आंवला की मिठाई बनाने की फैक्ट्री खोलने की अनुमति दी गई थी, लेकिन वे सरकार की नाक के नीचे एक रिसॉर्ट चला रहे थे।”

पॉल ने कई प्रमुख भाजपा नेताओं के नाम लिए जिन्हें यौन दुराचार का दोषी ठहराया गया है। द्वारहाट से भाजपा विधायक महेश नेगी पर बलात्कार और आपराधिक धमकी का आरोप है। राज्य सहकारी डेयरी फेडरेशन के प्रमुख मुकेश बोरा पर एक विधवा और उसकी बेटी का यौन शोषण करने का आरोप लगा था, और जिन्हें भाजपा ने 2024 में उनके पद से हटा दिया था। अल्पसंख्यक प्रकोष्ठ के सदस्य एक अन्य भाजपा नेता आदित्य राज सैनी को 2013 में हरिद्वार में एक 13 वर्षीय दलित लड़की के साथ बलात्कार और हत्या के आरोप में गिरफ्तार किए जाने के बाद उनके पद से हटा दिया गया और पार्टी से निष्कासित कर दिया गया।

पॉल आगे कहती हैं, “वर्तमान नेताओं का यही नैतिक स्तर है। जाहिर है, वे हर तरह के यौन दुराचार को बढ़ावा देंगे। सैकड़ों महिलाएं शिकायतें लेकर सामने आ रही हैं, लेकिन पुलिस पर उन्हें दबाने का दबाव रहता है।”

युवाओं के बीच विवाह के बजाय लिव-इन रिलेशनशिप को प्राथमिकता देने का नया रुझान ऐसे रिश्तों में हिंसा की बढ़ती घटनाओं से मेल खाता है। उत्तराखंड राज्य महिला आयोग की अध्यक्ष कुसुम कांडवाल कहती हैं, “यह प्रवृत्ति चिंताजनक है और महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए और अधिक जागरूकता और कानूनी उपायों की आवश्यकता को रेखांकित करती है।” ■

2016 और 2022 के बीच यौन अपराधों से लेकर महिलाओं के खिलाफ विभिन्न अपराधों में चार गुना वृद्धि हुई। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार हिमालयी राज्यों में बलात्कार के सर्वाधिक मामले उत्तराखंड में दर्ज किए गए

परिणाम अंकिता हत्याकांड के खिलाफ जबर्दस्त विरोध के बाद एक वरिष्ठ भाजपा नेता के खिलाफ एफआईआर दर्ज की गई

ईरानी क्रांति के अपहरण का खतरा

राजशाही को समाधान के रूप में प्रस्तुत करने का अर्थ है ईरानियों के विद्रोह के मूल कारण को भूल जाना

अशोक स्वैन

ईरान एक बार फिर खतरनाक दौर में प्रवेश कर चुका है, जो अब उसके लिए नई बात नहीं रही। बढ़ती कीमतों, बकाया वेतन और आर्थिक बदहाली के खिलाफ दिसंबर के अंत से शुरू हुए प्रदर्शन अब 2022 के बाद से देश में हुए सबसे व्यापक और राजनीतिक रूप से मुखर विद्रोह में तब्दील हो चुके हैं। घरों में खाली पड़े फ्रिज और खत्म होती आजीविका को लेकर नाराजगी का जो दौर शुरू हुआ था, आंदोलन बनकर अब खुले तौर पर इस्लामी गणराज्य के अंत की मांगों में तब्दील हो चुका है। प्रांतों, जातीय सीमाओं और सामाजिक वर्गों को पार करते हुए प्रदर्शनों का सिलसिला न सिर्फ तेहरान से बाहर निकल बहुत दूर तक फैल चुका है, बल्कि ईरानी प्रवासी लियोन से लेकर लॉस एंजिल्स तक के शहरों की सड़कों पर उतर आए हैं। नारों में किसी तरह की सतर्कता या भाषा की संकेतिकता बीते दिनों की बात है, अब वे सीधे, आक्रामक, तल्खी भरे और क्रांतिकारी तेवर वाले हैं।

शासन भी इस बार पिछले अनेक वर्षों की तुलना में कहीं ज्यादा कमजोर दिख रहा है। पश्चिमी प्रतिबंध और ज्यादा सख्त हो गए हैं, तेल राजस्व सीमित है, मुद्रास्फीति आम परिवारों को बुरी तरह प्रभावित कर रही है और मुद्रा का मूल्य काफी गिर चुका है। जून 2025 में सैन्य और रणनीतिक ठिकानों को निशाना बनाकर किए गए इसराइली हवाई हमलों ने वह असुरक्षाबोध और बढ़ा दिया है, जिसे छिपाने के लिए नेतृत्व जूझ रहा है। ईरान की क्षेत्रीय ताकत वाली छवि भी गंभीर दबाव में है। सीरिया, लेबनान और फिलिस्तीन में ईरान के सहयोगी और उनके प्रतिनिधि बुरी तरह कमजोर पड़ चुके हैं या अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं, जिससे न सिर्फ तेहरान के प्रभाव की सीमाएं उजागर हो रही हैं, ईरान में संसाधन भी घटते जा रहे हैं। तमाम ईरानियों के लिए, क्षेत्रीय शक्ति से सम्मान और समृद्धि मिलने का वादा बहुत पहले ही धराशाई हो चुका है।

शासन की प्रतिक्रिया वैसी ही क्रूर रही, जैसा अनुमान था। इंटरनेट बंद करना, बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां और गोली-बंदूक का इस्तेमाल एक बार फिर सड़कों पर दहशत फैलाकर शांति कायम करने के लिए किया जा रहा है। कुछ मानवाधिकार संगठनों का अनुमान है कि 500 से अधिक प्रदर्शनकारी मारे जा चुके हैं। सरकारी टेलीविजन पर रटे-रटाए नारे लगाते सत्ता के लाखों वफादारों की तस्वीरें दिख रही हैं और सर्वोच्च नेता प्रदर्शनकारियों को विदेशी एजेंट बताकर खारिज कर रहे हैं। विरोध प्रदर्शन के इस दिखावटी चेहरे के पीछे एक ऐसी व्यवस्था छिपी है जो वास्तव में दबाव में है। सुरक्षा तंत्र अत्यधिक दबाव में हैं, पूर्व के समर्थकों के बीच भी उसकी वैधता घट रही है और भय भी अब पहले जैसा प्रभावी नहीं रहा।

इसमें कोई शक नहीं कि ईरानियों को एक ऐसी व्यवस्था की दरकार है, जहां उनकी इच्छा का प्रदर्शन हो, जो उनके अधिकारों की रक्षा करे और उन्हें एक बेहतर भविष्य प्रदान करे। धार्मिक वर्चस्व पर आधारित और बलपूर्वक लागू की गई यह तानाशाही सरकार हर तरह से विफल रही है। इसने राजनीतिक जीवन को कुचल कर रख दिया है, महिलाएं और अल्पसंख्यक हाशिये पर धकेले जा चुके हैं, राष्ट्रीय संपत्ति को बर्बाद कर दिया है और देश को विदेशों में अंतहीन संघर्षों से टकराने के लिए छोड़ दिया है। लाखों लोग अब अगर इसे हटाने की मांग कर रहे हैं तो इस पर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

हालांकि, इस आक्रोश का कुछ हिस्सा जिस तरह किसी और दिशा में मोड़ा जाता दिखाई दिया है, चिंता की बात है। आजादी और सम्मान के नारों के साथ-साथ एक नई और परेशान करने वाली मांग भी सामने आई हैः ‘राजशाही की वापसी’। प्रदर्शनकारियों का एक धड़ा और प्रवासी कार्यकर्ता पहलवी राजवंश की बहाली और अपदस्थ शाह के निर्वासित पुत्र रजा पहलवी को ईरान का शासक बनाने की मांग कर रहे हैं। साक्षात्कारों और सार्वजनिक बयानों में उन्होंने न सिर्फ ईरानियों से विरोध प्रदर्शन तेज करने का आग्रह किया है, बल्कि खुले तौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका, और विशेष रूप से राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप से, मौजूदा शासन को उखाड़ फेंकने के लिए ईरान में सैन्य हस्तक्षेप करने का आह्वान भी किया है।

उन सभी लोगों के लिए यह चिंता की बात होनी चाहिए जो ईरान के भविष्य की वास्तव में परवाह करते हैं। इस्लामी गणराज्य की साख भले ही धूमिल हो गई हो, लेकिन शाह के शासनकाल की स्मृतियों में भी कोई वैसी आकर्षक कहानी नहीं हैं जो राजशाही समर्थक आज सुनाते और बेचते फिरते हैं। 1979 से पूर्व का राजतंत्र मौलवियों द्वारा छीनी गई स्वतंत्रता का स्वर्णिम युग तो था नहीं। यह एक सत्तावादी व्यवस्था थी जो क्रूर सुरक्षा तंत्र, राजनीतिक दमन, यातना के बल पर और जनता की भागीदारी को बड़े तरीके से दूर रखकर कायम की गई थी। मौजूदा धर्मतंत्र को जन्म देने वाली 1979 की क्रांति भी तो दशकों के तानाशाही, असमानता और विदेश समर्थित शासन की प्रतिक्रिया थी।

आज राजशाही को समाधान के रूप में प्रस्तुत करना इस बात को भूल जाना है कि लगभग आधी सदी पहले ईरानी लोग विद्रोह के लिए क्यों खड़े हुए थे। यह इस बुनियादी तथ्य को भी नजरअंदाज करता है कि निर्वासन में वैधता विरासत में नहीं मिल सकती। रजा पहलवी उन परिस्थितियों में नहीं रहे हैं जिनमें उनके समर्थक दावा करते हैं कि उन्हें अब शासन करना चाहिए। उन्होंने प्रतिबंधों, दमन या राज्य द्वारा थोपे गए रोजमर्रा वाले अपमानों का सामना नहीं किया है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ईरानियों ने उन्हें कभी भी किसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से नहीं चुना, और विदेशों में उनके नाम का जयकारा लगाने वाली भीड़ देश में किसी सामाजिक समझौते का प्रतीक नहीं है।

फोटो: गेटी इमेजेज

हमला तेहरान के उत्तर में कुख्यात एविन जेल पर इसराइली हमले के बाद उठता धुआं

विदेशी सैन्य हस्तक्षेप की मांग और ज्यादा खतरनाक है। बाहरी हस्तक्षेप की कीमत किस तरह चुकानी पड़ती है, ईरान का आधुनिक इतिहास इसका उदाहरण है। 1953 में सीआईए रचित मोहम्मद मोसादेघ को सत्ता से बेदखल करने वाली तख्तापलट की साजिश से लेकर शीत युद्ध के दशकों के हेरफेर तक, विदेशी हस्तक्षेप ने लोकतांत्रिक संभावनाओं को बार-बार कमजोर और सत्तावादी ताकतों को मजबूत किया है। आज की तारीख में किसी भी विदेशी नेतृत्व वाले हस्तक्षेप का नतीजा निश्चित तौर पर अराजकता, नागरिकों की मुश्किलों और विखंडन के रूप में सामने आएगा, न कि आजादी के रूप में। इससे शासन को उसका सबसे शक्तिशाली हथियार भी मिल जाएगाः कि विद्रोह एक विदेशी साजिश है, जिससे और ज्यादा दमन को जायज ठहराया जा सके।

राजशाही वाली अपीलों के मूल में एक नैतिक विरोधाभास भी निहित है। दैवीय सत्ता का दावा करने वाली धर्मतांत्रिक व्यवस्था का विरोध करना और फिर उसे विदेशी शक्ति द्वारा समर्थित वंशानुगत शासक से प्रतिस्थापित करना मुक्ति नहीं है। यह एक गैर-जवाबदेह व्यवस्था को दूसरी गैर-जवाबदेह व्यवस्था से प्रतिस्थापित करना है। ईरानी विरोध इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि वे गरिमा, स्वायत्तता और जीवन पर अपना नियंत्रण चाहते हैं। वे सड़कों पर मृत्यु का जोखिम उठाकर फिर से प्रजा बनने के लिए तैयार नहीं हैं।

यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा कि इस विद्रोह को भी 1979 की क्रांति की तरह उन ताकतों द्वारा हाईजैक कर लिया जाए जो इसकी मूल मांगों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। उस समय, तानाशाही के खिलाफ एक व्यापक आंदोलन को उन धार्मिक नेटवर्कों ने अपने कब्जे में ले लिया था जो अधिक संगठित और इतने निर्दयी थे कि उन्होंने मौके का फायदा उठा लिया।

ईरान के प्रदर्शनकारियों के सामने असली चुनौती मौजूदा शासन को गिराना ही नहीं है, बल्कि एक और थोपी हुई व्यवस्था के उदय को रोकना भी है। इसके लिए आंतरिक दमन और बाहरी जोड़तोड़, दोनों का प्रतिरोध जरूरी है।

पश्चिम को भी सावधानी बरतनी होगी। मानवाधिकारों का समर्थन, अत्याचारों का दस्तावेजीकरण और ईरानी नागरिक समाज को मंच देना- यह सब वैध और जरूरी काम हैं, सत्ता परिवर्तन की साजिश रचना, निर्वासित दावेदारों का समर्थन करना या सैन्य कार्रवाई की धमकी देना नहीं। ऐसे कदम उन ताकतों को ही कमजोर कर देंगे जिनका समर्थन करने का दावा ईरान करता है और इससे ईरान की लंबे समय से चली आ रही घेराबंदी वाली मानसिकता और ज्यादा गहरी हो जाएगी।

ईरान एक चौराहे पर खड़ा है, और इतिहास गवाह है कि आगे का रास्ता भी सीधा या आसान नहीं होगा। विरोध करने वालों के साहस को कमतर नहीं आंकना चाहिए, न ही शासन की उन्हें दबाने के लिए क्रूर बल प्रयोग करने की क्षमता को। फिर भी, अनिश्चितता के बीच, एक सिद्धांत स्पष्ट होना चाहिए किः ईरानियों को धार्मिक दबाव, वंशवादी लालसा या विदेशी बमों के बिना, आजादी के साथ अपना भविष्य चुनने का अधिकार है। एक प्रकार के प्रभुत्व को दूसरे प्रकार के प्रभुत्व से बदलने वाली क्रांति जीत नहीं होगी। यह दूसरा विश्वासघात होगा। ■

ईरानियों को धार्मिक दबाव, वंशवादी लालसा या विदेशी बमों के बिना, आजादी के साथ अपना भविष्य चुनने का अधिकार है। एक प्रकार के प्रभुत्व को दूसरे प्रकार के प्रभुत्व से बदलने वाली क्रांति जीत नहीं होगी। यह दूसरा विश्वासघात होगा

अशोक स्वैन स्वीडन के उप्सला विश्वविद्यालय में शांति और संघर्ष अनुसंधान के प्रोफेसर हैं।

सिल्वर स्क्रीन बना युद्ध का अखाड़ा

तमिल सिनेमा शायद ही कभी गैर राजनीतिक रहा हो, यह अक्सर सार्वजनिक दिशा को निर्णायक रूप से बदल देता है

के.ए. शाजी

तमिलनाडु में पोंगल के दौरान रोजमर्रा की सियासत किसी पार्टी दफ्तर, सचिवालय के गलियारे या झंडों से सजे रैली ग्राउंड में नहीं बल्कि सिनेमा हॉल के अंधेरे में आकार लेती है। मुंह अंधेरे ही थियेटर के बाहर पटाखे फूटते हैं, ऊंचे कट-आउट पर दूध चढ़ाया जाता है, पारंपरिक अंदाज में नारे गूंजते हैं, और वहां जो भीड़ जुटती है, उसे पहले से पता होता है कि उसे किस पर यकीन करना है। उनके सामने स्क्रीन पर जो दिखाया जाता है, वह सिर्फ एक फिल्म नहीं है। यह याद दिलाता है कि तमिलनाडु में फिल्म एक सामूहिक उत्सव रहा है और लोगों के लिए पहला बैलट।

इस पोंगल पर, विमर्श यह था कि कौन सी दो फिल्में लोगों की सोच पर असर डालेंगी और वे क्या संदेश देना चाहती हैं। 'न्यू पराशक्ति' हफ्तों के विवाद, सेंसर कट और राजनीतिक खींचतान के बाद रिलीज हुई। 'जन नायकन', जिसे अभिनेता विजय की राजनीति में पूरी तरह समर्पित होने से पहले सिनेमा को अलविदा कहने वाली फिल्म माना जा रहा था, लेकिन अचानक उसकी रिलीज टाल दी गई। एक फिल्म इतिहास को सजोए थी, तो दूसरी इससे पूरी तरह मुक्त, लेकिन विमर्श में बराबर रही। दोनों के बीच पोंगल बॉक्स ऑफिस एक राजनीतिक रूपक बन गया, जिसमें आने वाले विधानसभा चुनाव एक अनकहे संदर्भ के तौर पर मंडरा रहा था।

तमिल सिनेमा शायद ही कभी गैर-राजनीतिक रहा हो, लेकिन ऐसे पल आते हैं जब यह सार्वजनिक जीवन की दिशा को निर्णायक रूप से बदल देता है। 1952 में 'पराशक्ति' का रिलीज होना ऐसी ही बड़ी घटना थी। युवा एम. करुणानिधि द्वारा लिखी गई यह फिल्म, ऐसे समय आई जब पौराणिक फिल्मों का बोलबाला था। इसने स्थापित मान्यताओं को तोड़ा और उनकी जगह तीखी सामाजिक आलोचना को जगह दी। धर्म पर सवाल उठाए गए, जाति व्यवस्था को सामने लाया गया, लैंगिक अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई गई और ब्राह्मणवादी सत्ता को सार्वजनिक बहस में घसीटा गया। दर्शक परेशान हुए, यहां तक कि गुस्से में सिनेमाघर से बाहर निकले, लेकिन आखिर उन्हें पुरानी मान्यताओं पर सवाल उठाने के लिए मजबूर होना पड़ा।

द्रमुक के राष्ट्रीय प्रवक्ता सेलम धरणीधरन कहते हैं, 'पराशक्ति ने लोगों को अलग तरह से सुनना सिखाया' और बताते हैं कि कैसे सिनेमा द्रविड़ आंदोलन का क्लासरूम बना। 1967 में, जब द्रमुक ने सत्ता हासिल की, तो वैचारिक आधार पहले ही पर्चों या भाषणों में नहीं, बल्कि सिनेमाघरों में तैयार हो चुका था, जहां मतदाताओं को राजनीतिक तौर पर लामबंद करने से पहले भावनात्मक रूप से तैयार किया जा चुका था।

सत्तर साल बाद आई 'न्यू पराशक्ति' 1960 के दशक, खासकर 1965 के हिन्दी विरोधी आंदोलनों से प्रेरित है, जब तमिलनाडु केन्द्र द्वारा सांस्कृतिक और भाषाई प्रभुत्व के खिलाफ भड़क उठा था। उस आंदोलन ने द्रविड़ संघवाद की भावनात्मक नींव को मजबूत किया। यह भाषाई प्रतिरोध था।

यह इतिहास सिर्फ किताबों में नहीं। यह पारिवारिक कहानियों में, स्कूली पाठों में, राजनीतिक स्मृतियों में जिंदा है जो दिल्ली द्वारा भाषाई एकरूपता थोपे जाने पर फिर से सामने आ खड़ी होती है।

रिलीज की तारीख ने अभिनेता से नेता बने विजय और सत्ताधारी द्रमुक के बीच स्क्रीन पर छद्म युद्ध छेड़ दिया है। 9 जनवरी को 'जन नायकन' और 10 जनवरी को 'न्यू पराशक्ति' रिलीज हुई। दर्शकों की फिल्मों के एक भी फ्रेम देखने से पहले इस टकराव को प्रतीकात्मक बताया गया। सोशल मीडिया ने इस नैरेटिव को विस्तार दिया। राजनीतिक खेमों ने इसकी अपने-अपने हिसाब से व्याख्या की। इस तरह, सिनेमा हॉल युद्ध मैदान जैसे बन गए।

फिर, 'जन नायकन' की रिलीज टाल दी गई। इस देरी ने राजनीतिक निहितार्थ को और गहरा दिया। तमिलनाडु में, टाइमिंग कभी भी संयोग नहीं होती। रिलीज तारीख, फेस्टिवल स्लॉट और पहला शो लंबे समय से राजनीतिक संकेत देने के साधन रहे हैं।

पराशक्ति का वितरण रेड जायंट मूवीज के पास है जिसका मालिकाना हक इनबन उदयनिधि के पास है जिन्होंने अपने पिता उपमुख्यमंत्री उदयनिधि स्टालिन की जगह ली है। इनबन मुख्यमंत्री एम.के. स्टालिन के पोते और करुणानिधि के परपोते हैं। करुणानिधि मूल पराशक्ति के स्क्रिप्ट राइटर और द्रविड़ आंदोलन के सबसे प्रभावी आवाज थे। यह वंश तमिलनाडु की राजनीति में बहुत मायने रखता है। 1952 की 'पराशक्ति' शिवाजी गणेशन की पहली फिल्म थी और यह करुणानिधि की वैचारिक सफलता साबित हुई जिसने सिनेमा को द्रविड़ आंदोलन के प्रति जनमत बनाने के सबसे शक्तिशाली साधन के रूप में स्थापित किया।

टकराव जो नहीं हुआ इस पोंगल पर विजय की जन नायकन (बाएं) का मुकाबला द्रमुक समर्थित पराशक्ति से होने वाला था

'न्यू पराशक्ति' 1960 के दशक के हिन्दी विरोधी आंदोलनों से प्रेरित है, जब तमिलनाडु केन्द्र के सांस्कृतिक और भाषाई प्रभुत्व के खिलाफ भड़क उठा था। उस आंदोलन ने द्रविड़ संघवाद की भावनात्मक नींव को मजबूत किया। यह भाषाई प्रतिरोध था

'नई पराशक्ति' जानबूझकर उस परंपरा से प्रेरणा लेती है, जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों को नैरेटिव के साथ मिलाकर मद्रास प्रेसीडेंसी के उन छात्रों की कहानी बताई गई है, जिन्होंने हिन्दी थोपे जाने के खिलाफ आवाज उठाई थी। यह फिल्म उस पीढ़ी के दौर में आई है जिसके लिए भाषाई राजनीति कोई मायने नहीं रखती, जब तक कि यह अचानक राष्ट्रीय बहस के केन्द्र में वापस न आ जाए।

फिल्म की रिलीज तक की यात्रा ने सिनेमा को संस्थागत संघर्ष का मैदान बना दिया। द्रमुक और उसके सहयोगियों ने केंद्र पर सेंट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन का हथियार के तौर पर इस्तेमाल करने का आरोप लगाया। भाजपा ने इस आरोप को खारिज कर दिया। भाजपा की राज्य नेता एस. खुशबू ने कहा, 'अगर केन्द्र राजनीतिक रूप से फिल्मों को रोकना चाहता, तो पराशक्ति पहली फिल्म होती जिसे रोका जाता। रेड जायंट द्रमुक के करीब है। लेकिन सीबीएफसी सिर्फ नियमों का पालन करता है।'

'जन नायकन' के मामले में खुशबू ने कहा कि इसमें हुई देरी राजनीतिक नहीं, प्रक्रियागत थी। उन्होंने कहा, 'आप सीबीएफसी सर्टिफिकेट के बिना रिलीज तारीख की घोषणा नहीं कर सकते। यह निर्माता की जिम्मेदारी है। विजय की फैन होने के नाते मैं भी दुखी हूं, लेकिन नियम सब पर लागू होते हैं'।

कांग्रेस सांसद शशिकांत सेंथिल ने कहा, 'वे किसी भी संस्था के इस्तेमाल से नहीं हिचकिचाएंगे। यह फासीवाद की ताकत है।' उन्होंने अन्नाद्रमुक-भाजपा गठबंधन के दौरान रोजगार योजनाओं और जनहित कार्यक्रमों में किए गए बदलावों की ओर इशारा करते हुए तमिलनाडु को आगाह किया कि शासकीय विमर्शों को नजरअंदाज नहीं करें। इससे पता चलता है कि सिनेमा किस तरह एक बार फिर संघवाद, स्वायत्तता और संस्थागत विश्वास के संदर्भ में गहरी चिंताओं का जरिया बन गया है।

जन नायकन की राजनीति नैतिक है। इसमें न्याय सामूहिक संघर्ष या संस्थागत सुधार के बजाय हीरो के नैतिक रुख से होता है। अब तक विजय की राजनीतिक पेशबंदी बिल्कुल ऐसी ही है।

जन नायकन पुरानी तमिल परंपरा की याद दिलाती है। एम.जी. रामचंद्रन भी अपनी लोकप्रियता के चरम पर स्क्रीन से दूर हो गए थे ताकि फिल्मी करिश्मा को राजनीतिक वैधता में बदल सकें। लेकिन दोनों में एक बड़ा अंतर है। एमजीआर को द्रविड़ विचारधारा विरासत में मिली और उन्होंने उसे नया रूप दिया। वह इसके जरिये राजनीति में आए। विजय ने अब तक उस विरासत से दूरी बनाए रखी है। उनका 'तमिलगा वेट्री कजगम' द्रविड़ विरासत पर दावा नहीं करता; यह खुद को स्थापित दो ध्रुवों के विकल्प के तौर पर पेश करना चाहता है।

जैसे ही 'न्यू पराशक्ति' दर्शकों को भाषा, इतिहास और प्रतिरोध पर बहस में खींचने लगी, जन नायकन के टलने से एक अलग तरह की गति बनी। विजय के समर्थकों के लिए यह एक बाहरी व्यक्ति द्वारा बुरे सिस्टम का सामना करने के नैरेटिव को मजबूत करता है। द्रमुक की बात करें तो पराशक्ति ने अस्थायी तौर पर ही सही, सांस्कृतिक स्थान पर उसे बिना किसी चुनौती कब्जा करने दिया, जिससे द्रविड़ सिनेमाई परंपरा पर उसके दावे की पुष्टि हुई।

शुरुआती बॉक्स ऑफिस पैटर्न ने जाने-पहचाने विभाजन का संकेत दिया है। पराशक्ति को अर्ध-शहरी और ग्रामीण इलाकों में, राजनीतिक रूप से जागरूक दर्शकों के बीच लगातार दर्शक मिले, जिनके लिए भाषा की राजनीति बहुत गहरी और व्यक्तिगत है। जन नायकन के बारे में शहरी युवाओं और पहली बार वोट देने वालों की खासी रुचि रही जिससे पता चलता है कि विजय की उभरती ताकत कहां है।

बार-बार वही पैटर्न

पराशक्ति ने द्रमुक के उदय के लिए भावनात्मक जमीन तैयार की। एमजीआर की फिल्मों ने दयालुता को राजनीतिक करिश्मा में बदल दिया। जयललिता की पर्दे वाला दबदबा पार्टी में भी वैसे ही उतर आया। पोंगल का यह पल उसी सिलसिले में बिल्कुल फिट बैठता है।

मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के पूर्व फैकल्टी सी. लक्ष्मणन का कहना है, 'तमिलनाडु में सिनेमा चुनाव तय नहीं करता। लेकिन यह अक्सर उनका भावनात्मक व्याकरण तय करता है। यह पार्टियों के कुछ कहने से पहले ही वोटर को बता देता है कि वे किस तरह के मुकाबले में उतर रहे हैं। करुणानिधि ने एक बार लोगों को यह सिखाने के लिए सिनेमा का इस्तेमाल किया था कि सत्ता से सवाल कैसे करें। विजय इसका इस्तेमाल यह पूछने के लिए कर रहे हैं कि क्या लोग अब भी उन पर यकीन करते हैं जिन्होंने इसे विरासत में पाया। इसका जवाब टिकटों की बिक्री या ओपनिंग वीकेंड के आंकड़ों में नहीं मिलेगा।' यह बाद में चुपके से सामने आएगा जब स्क्रीन काली हो जाएगी और बैलेट बॉक्स खुलेंगे। ■

राज्य 360° केरला

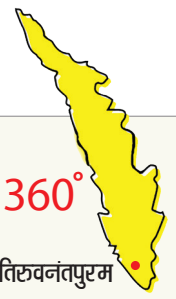

कांग्रेस ने मुश्किल मोर्चे के लिए की ठोस तैयारी

अमल चंद्र

चुनाव प्रचार के शोर-शराबे से दूर वायनाड के सुल्तान बाथरी की हरी-भरी पहाड़ियों में कांग्रेस का हाल ही में संपन्न हुआ दो दिवसीय 'लक्ष्य नेतृत्व सम्मेलन' केरला की राजनीति में एक निर्णायक क्षण बनकर उभरा है। वैसे तो यह चुनाव से पहले की महज एक रणनीति बैठक थी, लेकिन असल में इसने यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (यूडीएफ) को एक नई ऊर्जा दी। कांग्रेस इस फ्रंट की अहम घटक है। केरला में अप्रैल में विधानसभा चुनाव होने जा रहा है और रणनीतिकार इस नेतृत्व सम्मेलन को 'राजनीतिक पुनर्संतुलन का क्षण' बता रहे हैं।

इसके मुख्यतः दो कारण हैंः स्थानीय निकाय चुनावों में हालिया प्रदर्शन और पार्टी के वरिष्ठ नेताओं की तरफ से दिखाई गई मजबूत रणनीतिक दिशा। यूडीएफ ने दिसंबर 2025 के स्थानीय निकाय चुनावों में शानदार नतीजे दिए- 505 ग्राम पंचायतें, 79 ब्लॉक पंचायतें, 54 नगरपालिकाएं और 7 जिला पंचायतें जीतीं। इस प्रदर्शन ने लगातार दो बार से सत्ता में रह रहे लेफ्ट डेमोक्रेटिक फ्रंट (एलडीएफ) को बौना साबित कर दिया। जहां नेशनल डेमोक्रेटिक अलायंस (एनडीए) ने तिरुवनंतपुरम निगम पर कब्जा करके सुर्खियां बटोरीं और 45 साल के वाम दबदबे को खत्म किया, वहीं पूरे केरला की बड़ी तस्वीर यह रही कि यूडीएफ की जमीनी ताकत मजबूत और व्यापक है और निश्चित रूप से विधानसभा चुनावों से पहले यह एक बड़ा फायदा है।

स्थानीय निकाय चुनावों के नतीजों ने कांग्रेस के लिए नैरेटिव को बदल दिया। सम्मेलन के उद्घाटन सत्र में एआईसीसी महासचिव के.सी. वेणुगोपाल ने चुनावी गणित को इसी संदर्भ में मजबूती से पेश किया। उन्होंने जमीनी प्रदर्शन और राजनीतिक तैयारी के महत्व पर जोर देते हुए कहा कि पार्टी विधानसभा चुनाव अभियान के लिए अपनी रणनीति बनाने के लिए स्थानीय निकाय चुनावों में अपनी जीत और हार दोनों का बेबाक मूल्यांकन करेगी।

खुशफहमी में न पड़ने की सलाह देते हुए, वेणुगोपाल ने सत्र से पहले कहा कि पार्टी अपनी जीत के साथ-साथ हार का भी सख्ती से मूल्यांकन करेगी। उनका संदेश साफ थाः पार्टी में अंदरूनी गुटबाजी खत्म होनी चाहिए और सख्त अनुशासन बनाए रखना होगा ताकि पार्टी के बिखराव की धारणा न बने। वेणुगोपाल ने जोर देकर कहा, 'हमें उम्मीदवारी के बारे में खुद से घोषणाएं नहीं करनी चाहिए... हमें पार्टी के फैसले का इंतजार करना चाहिए।' यह संकेत देता है कि कांग्रेस 2026 के राजनीतिक नैरेटिव पर न केवल प्रतिक्रिया देना चाहती है, बल्कि इसे आकार देना चाहती है।

सत्र में कई काम की चर्चाएं हुईं जिसके परिणामस्वरूप राज्यव्यापी लामबंदी के लिए एक ठोस रोड मैप तैयार हुआ। मुख्य पहलों में सतीशन के नेतृत्व में फरवरी में शुरू होने वाली केरला यात्रा, बूथों का पुनर्गठन, सोशल मीडिया अभियान और उम्मीदवारों को अंतिम रूप देने के लिए शुरुआती जमीनी काम वगैरह रही।

इस सम्मेलन ने सतीशन के नेतृत्व में भरोसे को फिर से पक्का किया, खासकर तब जब सम्मेलन से ऐन पहले एक विजिलेंस रिपोर्ट लीक हुई थी जिसमें उनसे जुड़े मामलों की सीबीआई जांच की मांग की गई थी। पत्रकारों से बात करते हुए, सतीशन ने इन आरोपों को एलडीएफ का 'चुनावी हथकंडा' बताया और कहा कि उनके लिए जनहित से जुड़े मुद्दे ही अहम हैं और वह उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

वोटर के सामने तमाम तरह के मुद्दे हैं। कांग्रेस की सफलता सिर्फ संगठनात्मक ताकत या चुनावी गणित पर नहीं, बल्कि इस बात पर भी निर्भर करेगी कि वह इन सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को सभी सीटों पर एक साथ मिलाकर एक मजबूत नैरेटिव कैसे पेश करती है

पार्टी में ऊपर से नीचे तक एक बदलाव साफ देखने को मिला - अंदरूनी झगड़ों को छोड़कर लोग एकजुट होकर अनुशासित रणनीति पर चल रहे हैं। सांसद और कांग्रेस कार्यसमिति सदस्य शशि थरूर ने सम्मेलन में अपने संबोधन में एकजुटता पर जोर दिया। थरूर ने सोशल मीडिया पर कहा कि उन्हें 'कांग्रेस के वरिष्ठ साथियों के साथ बातचीत करके अच्छा लगा' और खास तौर पर इस बात का जिक्र किया कि निकाय चुनावों के नतीजों ने पार्टी के अंदर 'आत्मविश्वास और भरोसा बढ़ाया है'। सधे हुए शब्दों में थरूर ने आत्मविश्वास और सावधानी के दोहरे नजरिये को भी सामने रखा, जो अब यूडीएफ के कैंपेन के नैरेटिव को तय करता है।

वरिष्ठ नेताओं ने एलडीएफ सरकार की आलोचना और तेज कर दी। रमेश चेन्नितला ने मुख्यमंत्री पिनाराई विजयन पर असली शासन के मुद्दों को सुलझाने के बजाय सांप्रदायिक तनाव बढ़ाने के लिए 'बांटो और राज करो' की नीतियों को अपनाने का आरोप लगाया। उन्होंने माकपा और भाजपा के बीच फूट डालने वाले नैरेटिव को बढ़ावा देने में मिलीभगत का भी आरोप लगाया। केरला प्रदेश कांग्रेस कमेटी अध्यक्ष सन्नी जोसेफ ने स्थानीय निकाय चुनावों में मिली बड़ी जीत को 'एलडीएफ सरकार की जनविरोधी नीतियों को सिरे से नकारा जाना' बताया।

*

इस बीच, मुख्यमंत्री ने किसी भी सत्ता विरोधी लहर की बात को खारिज करते हुए फिर से बहुमत हासिल करने का भरोसा जताया। पीडब्लूडी मंत्री पी.ए. मोहम्मद रियास ने भी इसी भावना को दोहराया और 110 सीटें जीतने का महत्वाकांक्षी लक्ष्य रखा।

हालांकि, कांग्रेस नेताओं ने इसे बचाव की मुद्रा में आई सरकार की कोरी बयानबाजी बताया। वेणुगोपाल ने खासकर मुख्यमंत्री की हालिया प्रेस कॉन्फ्रेंस की कड़ी आलोचना की और इसे 'हारते हुए कप्तान का विलाप' बताया। मतदाता सूची में संशोधन और सामाजिक-आर्थिक चिंताओं जैसे रोजमर्रा के मुद्दों पर शासन और जवाबदेही के इर्द-गिर्द अपने अभियान की रणनीति बनाकर, कांग्रेस को उम्मीद है कि वह एलडीएफ के ध्रुवीकरण के प्रयासों को बेअसर कर देगी और भाजपा के किसी भी ऐसे नैरेटिव का मुकाबला कर सकेगी जो यूडीएफ के आधार को कमजोर कर सकता है। पार्टी का बूथ समितियों को मजबूत करने, जल्दी उम्मीदवार चुनने और प्रचार करने और सुव्यवस्थित आंतरिक अनुशासन पर जोर देना 2016 और 2021 की पिछली असफलताओं से सीखे गए सबक का संकेत देता है।

बदलाव को तैयार लक्ष्य समिट में हिस्सा लेने वालों को चुनावों से पहले एकता दिखाने का स्पष्ट संदेश और केरला प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष सन्नी जोसेफ

फिर भी चुनौतियां बहुत बड़ी हैं। केरला के वोटर समझदार हैं, जिनके सामने बेरोजगारी से लेकर किसानों की परेशानी, शहरी इंफ्रास्ट्रक्चर के दबाव से लेकर युवाओं की आकांक्षाओं तक, तमाम तरह के मुद्दे हैं। कांग्रेस की सफलता सिर्फ संगठनात्मक ताकत या चुनावी गणित पर निर्भर नहीं करेगी, बल्कि इस बात पर भी निर्भर करेगी कि वह इन सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को सभी सीटों पर एक साथ मिलाकर एक मजबूत नैरेटिव कैसे पेश करती है।

सम्मेलन में शामिल लोगों ने एक मजबूत संदेश के साथ सम्मेलन से विदाई लीः यह कोई आम चुनाव नहीं; इसमें जीत से ज्यादा एकता दिखाना और रणनीतिक रूप से काम करना जरूरी है। सालों में पहली बार, केरला में कांग्रेस को एक साफ रणनीतिक दिशा मिली है - जो आत्मविश्वास, एकता और चुनावी सफलता का एक भरोसेमंद रास्ता दिखाती है। ■

अमल चंद्र लेखक, राजनीतिक विश्लेषक और स्तंभकार हैं।

इसे मात्र कथाकार का अपमान मानना चाहिए?

बिलासपुर में हुए घटनाक्रम को लेकर लेखकों से यह उम्मीद करना उनके साथ ज्यादती है कि वे लिहाजी संस्कृति में कोई भिन्न आचरण करेंगे

अपूर्वानंद

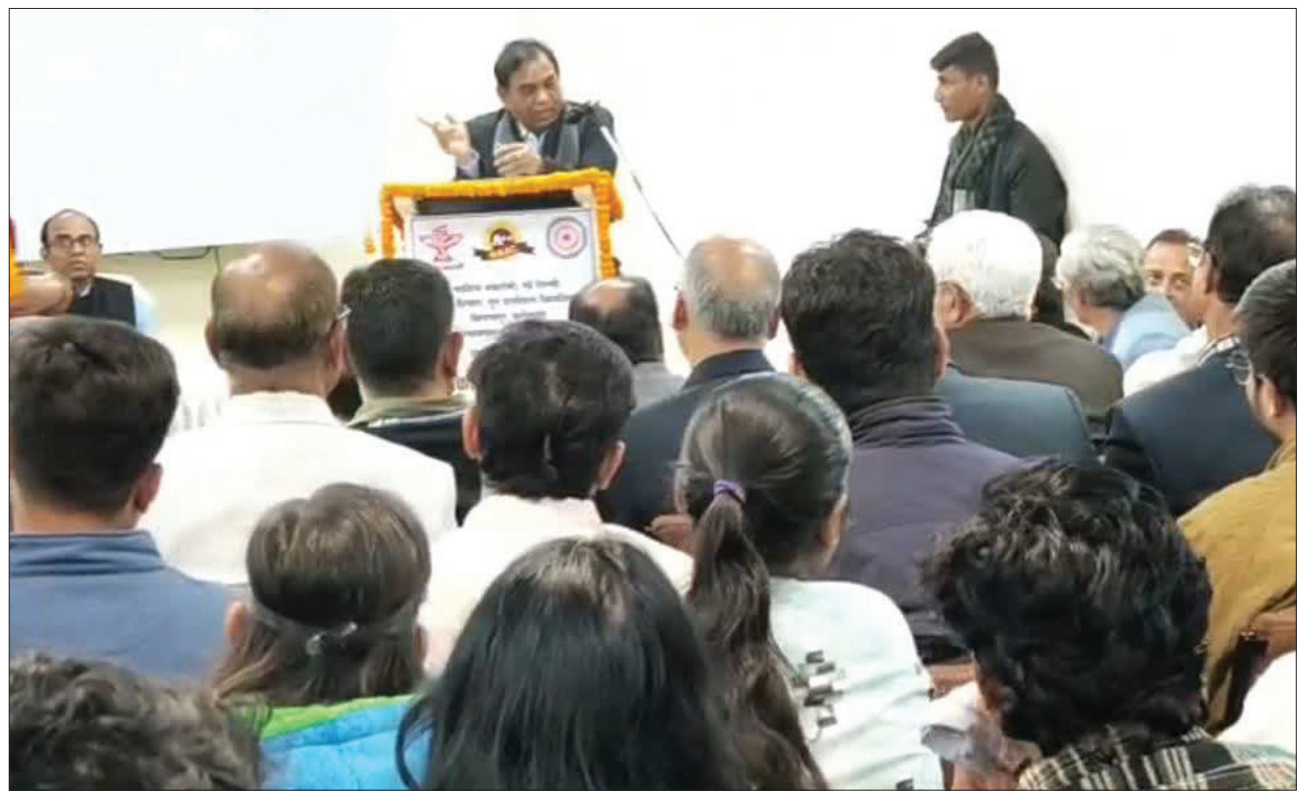

विवाद गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के कार्यक्रम में कुलपति आलोक कुमार चक्रवाल

छत्तीसगढ़ राज्य के बिलासपुर में गुरु घासीदास विश्वविद्यालय में कथाकार मनोज रूपड़ा के साथ कुलपति आलोक कुमार चक्रवाल ने जो अभद्र बर्ताव किया, उसकी उचित ही निंदा हो रही है। कुलपति चक्रवाल साहब अपने विश्वविद्यालय और साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी कहानी पर आयोजित एक संगोष्ठी में बोल रहे थे। इस प्रसंग का जो वीडियो प्रसारित हुआ है, उसमें वह कुछ हल्की-फुल्की बातें करते सुनाई दे रहे हैं।

उनकी निगाह सामने बैठे श्रोताओं की तरफ जाती है और किसी को कहते सुनाई देते हैं कि आप असहज मालूम दे रहे हैं। सामने से आता जवाब शायद यह था कि आप विषय पर नहीं बोल रहे हैं या विषय पर बोलिए। फिर कुलपति कहते हैं कि अगर आप असहज हैं, तो बाहर जा सकते हैं। आपको कुलपति से बात करने का तरीका नहीं मालूम है, आदि, आदि।

फिर मनोज रूपड़ा खड़े होते हैं और कमरे से निकल जाते हैं। बाद में कुलपति अपने अधिकारियों से पूछते हैं कि इनको किसने बुलाया। अपने आचरण को उचित ठहराते हुए कहते हैं कि वह काफी देर से देख रहे थे कि ये सज्जन सहज नहीं थे। जो सहज नहीं है, उसे कमरे में नहीं रहना चाहिए।

चतुर्दिक निंदा के बाद भी कुलपति को अपने आचरण में कोई गलती नहीं दिखलाई पड़ रही है। मुनासिब होता कि वह पूरे प्रकरण पर खेद प्रकट करते और रूपड़ा जी से माफी मांग लेते। लेकिन वह अपने आचरण को उचित ठहराने पर तुले हैं। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि उनसे कुछ और गलतियां हुई हैं। जब उन्होंने इस संगोष्ठी में आना स्वीकार किया, उसी समय उन्हें अपने दफ्तर से गोष्ठी के संबंध में सूचना ले लेनी चाहिए थी। गोष्ठी किस विषय पर है, उसमें कौन-कौन भाग लेंगे, इन सबके बारे में संबंधित विभाग से जानकारी लेकर उन्हें कमरे में आना चाहिए था।

उनका यह पूछना कि इनको किसने बुलाया, हद दर्जे की अभद्रता थी। बुलाया उनके संस्थान ने था, और जब तक अतिथि कोई अभद्र आचरण न करे, उसके सम्मान की रक्षा का दायित्व संस्थान का और उसके प्रमुख के नाते उनका था।

कुलपति को अलग-अलग विषय के कार्यक्रमों में संस्थान का प्रमुख होने के नाते जाना पड़ता है। हर विषय की जानकारी होना किसी के लिए संभव नहीं। ऐसी स्थिति में आम तौर पर कुलपति को बात करने के लिए कुछ बिन्दु विभाग की तरफ से दिए जाते हैं। उनकी भूमिका प्रायः औपचारिक रूप से संस्थान का प्रतिनिधित्व करने की होती है। चक्रवाल साहब का क्षेत्र वाणिज्य का है। साहित्य के बारे में उनकी जानकारी सीमित ही होगी। उन्हें अपने पद की गरिमा की रक्षा के लिए विषय के अनुरूप तैयारी करके जाना चाहिए था।

लेकिन कई दूसरे लोगों की तरह उन्होंने सोचा होगा कि चूंकि कहानी हर कोई पढ़ सकता है, तो उस पर हर कोई बोल भी सकता है। वह जिस तरह की बात कर रहे थे, उससे संगोष्ठी की गंभीरता नष्ट हो रही थी। विश्वविद्यालय ऐसी जगह है, जहां हम सड़क पर चलताऊ तरीके से की जा रही बातचीत से अलग एक सुव्यवस्थित विचार-विमर्श करते हैं। कुलपति क्या इस अपेक्षा के अनुसार बोल रहे थे?

अफसोस! आज के कुलपतियों को खुद अपनी गरिमा का ध्यान नहीं है। चक्रवाल साहब यह नहीं सोच पाए कि भले बाकी लोग उठकर न गए हों, लेकिन उनके वक्तव्य के बारे में उनकी राय मनोज रूपड़ा से अलग न होगी।

यह लेकिन सिर्फ चक्रवाल साहब ही कर रहे हों, ऐसा नहीं। अधिकतर संस्थान प्रमुख अब अपने पद की गरिमा का ध्यान न रखकर मंच से चुटकुलेबाजी करते देखे जाते हैं। प्रायः श्रोता सिर झुकाए इस मूर्खता को झेलते रहते हैं। 'समझदार' लोग किसी तरह कुलपति-क्षण के टल जाने की प्रतीक्षा करते हैं।

'इंडियन एक्सप्रेस' को दी गई अपनी सफाई में कुलपति महोदय ने कहा कि वह बोलते वक्त देर से देख रहे थे कि मनोज रूपड़ा का ध्यान कहीं और है और वह लगातार मोबाइल देख रहे थे। मैं उनसे अदब से पूछा कि क्या वह बोर हो रहे हैं। इस पर उन्होंने मुझसे विषय पर बोलने को कहा। यह मंच का अपमान था, इसलिए मैंने उनसे कमरे से जाने को कहा। अखबार को उन्होंने कहा कि इसके बाद मुझे फोन पर गालियां दी जा रही हैं और मेरे खिलाफ अपमानजनक भाषा का प्रयोग किया जा रहा है। क्या यही हमारी संस्कृति है?

कुलपति को अब संस्कृति की याद आ रही है! लेकिन कुलपति कुछ हद तक सही भी हैं। सोशल मीडिया पर कई लेखक जिस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, उस पर उन्हें विचार करने की जरूरत होगी। कितनी आसानी से उन्हें कुलकलंक कहा जा रहा है! ऐसा लिखने वाले इस शब्द के पीछे की जातिवादी और पुरुष सत्तात्मक मानसिकता के बारे में सोच नहीं पाए। चाहें तो कह सकते हैं कि यह शब्दों का खेल है।

> विरोध से समझ की सामाजिकता का निर्माण होता है। किसी एक का अपमान सामूहिक अपमान होता है। जिस सभा को इन बातों का अहसास न हो, उसे सभ्य कैसे कहा जाए? आखिर कुलपति का विरोध किया ही कैसे जा सकता था?

कुलपति को कुलकलंक कहने में एक विनोद है। लेकिन कुलकलंक के पीछे कुल और कलंक की अवधारणा भी है। किसी के लिए ऐसे शब्द का प्रयोग कितना उचित है, इस पर सोचने की जरूरत है। इसी तरह दूसरे विशेषणों के प्रयोग का मसला है। अगर हमारे विरोध की भाषा भी सड़क छाप हो, तो एक तरह से हम उसी संस्कृति को खाद-पानी दे रहे हैं, जिसका हम विरोध करना चाहते हैं।

इस घटना में एक दूसरी बात की तरफ ध्यान गया। मनोज रूपड़ा जब उठकर गए, तो हॉल में कोई हलचल नहीं दिखलाई पड़ी। बाद में लोगों ने बताया कि वहां अन्य लेखक भी थे, जो बैठे रहे। लेकिन यह कोई अपवाद नहीं है। मैंने खुद बड़े बुद्धिजीवियों को सभा में न सिर्फ कुलपतियों या 'सम्माननीयों' का अनर्गल प्रलाप बर्दाश्त करते, बल्कि उनकी मुसलमानों के बारे में घृणा भरी बातों को चुपचाप सुनते देखा है। बाद में निजी बातचीत में वे जरूर अफसोस जाहिर करते हैं लेकिन सार्वजनिक तौर पर उसी समय विरोध प्रकट करना हमारा सामाजिक स्वभाव नहीं है।

इसका सिर्फ एक कारण है। वह है हमारे समाज में जातिवादी अभ्यास के कारण 'बड़ों के लिहाज' की संस्कृति। बड़ा कितना भी असभ्य और अभद्र हो, उसका विरोध करना ही बदतमीजी माना जाता है। जाति पदानुक्रम में ब्राह्मण या 'ऊंची जाति' के लोग बड़े होते हैं, घर में ये बड़े मां-बाप, बड़े भाई होते हैं, क्लास में अध्यापक होते हैं, संस्थाओं में पदाधिकारी होते हैं। आखिर कुलपति का विरोध किया ही कैसे जा सकता था?

इस लिहाजी संस्कृति में विरोध का स्वर विसंवादी व्यवधान मालूम होता है। लेखकों से उम्मीद करना कि वे इस लिहाजी संस्कृति में कोई भिन्न आचरण करेंगे, उनके साथ ज्यादती है!

अध्यापकों, लेखकों, बुद्धिजीवियों से उम्मीद की जाती है कि वे स्वायत्तता की, व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करेंगे और सतहीपन का विरोध करेंगे। इस विरोध से समझ की सामाजिकता का निर्माण होता है। किसी एक का अपमान सामूहिक अपमान होता है। जिस सभा को इन बातों का अहसास न हो, उसे सभ्य कैसे कहा जाए?

इस प्रसंग में साहित्य अकादमी की भागीदारी को लेकर भी सवाल उठ रहे हैं। कई संस्थान अपनी गोष्ठियों के लिए अकादमी से आर्थिक सहयोग लेते हैं। इससे आगे आयोजन में अकादमी की भूमिका प्रायः न के बराबर होती है। मालूम नहीं कि क्या वह वक्ताओं के नाम तय करने में भी दखल देती है या नहीं। जो हो, चूंकि इस आयोजन से अकादमी का नाम जुड़ा है, इस प्रसंग पर उसकी चुप्पी से उसका सम्मान नहीं बढ़ता।

वैसे, कोई यह कह सकता है कि उसकी परवाह किसे है! जब मंत्रालय ने अकादमी को वार्षिक पुरस्कार घोषित नहीं करने दिया, उसी वक्त सारे पदाधिकारियों को इस्तीफा दे देना था। आखिर वे अकादमी के नौकर नहीं हैं। अभी भी वे लेखकों के द्वारा चुनकर वहां भेजे गए हैं। वे लेखकों के प्रतिनिधि हैं। लेकिन बर्ताव वे सरकार के नौकर की तरह का कर रहे हैं। फिर उनसे इस प्रसंग में कुछ भी बोलने की उम्मीद कैसे करें?

साहित्य अकादमी को आज भी स्वायत्त मानने वाले भोले ही कहे जाएंगे। वैसे ही जैसे गुलज़ार और विनोद कुमार शुक्ल ने जब ज्ञानपीठ पुरस्कार स्वीकार किया, तो उसे उनका भोलापन कहा गया था। उनके ठीक पहले यह पुरस्कार एक ऐसे व्यक्ति को दिया गया था, जो खुलेआम जातिवादी घृणा और मुसलमानों के खिलाफ घृणा का प्रचार करता है। गुलज़ार और विनोद कुमार शुक्ल से राजनीतिक मुखरता की मांग नहीं की जा रही थी। वे उस पुरस्कार को नामंज़ूर करके उस सामाजिक संस्कृति के प्रति अपना विरोध जाहिर कर सकते थे जो घृणा पर आधारित है। पुरस्कार लेते वक्त भी वे यह कर सकते थे। इसके लिए बहुत साहस की जरूरत न थी, मात्र संवेदनशीलता की थी। जो किसी हत्यारे को माला पहनाए, उससे माला पहनना हत्या की संस्कृति को विस्तृत करना है।

मुसलमानों का अपमान, दलितों का अपमान अगर हम सबका अपमान नहीं है, तो हम कौन हैं? चूंकि यह संवेदनशीलता हमारे भीतर नहीं है, मनोज रूपड़ा का अपमान भी उनके साथ बैठे लेखकों को उन्हीं का अपमान लगा, उससे उन्हें खुद कोई चोट नहीं पहुंची। ■

अपूर्वानंद दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं।
साभार: thewirehindi.com

विंध्य शृंखला के प्रति लापरवाही खतरनाक

ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहाड़ों को उजाड़ने की जो शुरूआत की, वह आज तक थम नहीं रही है। इसके दुष्परिणाम तो झेलने ही पड़ेंगे

पंकज चतुर्वेदी

फोटो: गेटी इमेजेज

बेपरवाही सरकार पहाड़ के प्रति बेपरवाह है, इसलिए पहाड़ की नाराजगी सामने आ रही है

बीते 29 दिसंबर को सुप्रीम कोर्ट ने जिस तरह अपने ही 20 नवंबर के आदेश पर रोक लगाते हुए अरावली की ऊंचाई 100 मीटर होने पर ही पहाड़ मानने और दो पहाड़ों के बीच की दूरी 500 मीटर से अधिक होने पर उसे पहाड़ की शृंखला न मानने के आदेश पर 21 जनवरी 2026 तक रोक लगाई, यह महज चार राज्यों में फैली अरावली का ही सवाल नहीं है। यह प्रायः उपेक्षित रहने वाले पूरे देश के 'पहाड़ पर्यावरण' के संरक्षण की दृष्टि से बड़ा कदम है। बीते कुछ सालों में वायनाड की त्रासदी, महाराष्ट्र में हर साल ढहते पहाड़ों के नीचे दबते गांव, उत्तराखंड से लेकर हिमाचल प्रदेश तक धंसते-उजड़ते पहाड़ों को याद दिलवाने का जरिया है। पहाड़ केवल पर्यटन या फिर खनन नहीं हैं, बल्कि धरती के अस्तित्व का महत्वपूर्ण अंग हैं।

अभी कुछ सौ साल पहले तक पहाड़, उस पर घने जंगल भारत के लोगों की लोक संस्कृति और सह-अस्तित्व जीवन के मूलाधार थे। ईस्ट इंडिया कंपनी तो यहां केवल पैसा कमाने आई थी और उसके लिए पेड़ 'हरा सोना' और पहाड़ महज खनिज के स्रोत थे। कंपनी ने पहाड़ों को उजाड़ने की जो शुरूआत की, वह आज तक थम नहीं रही है। प्रकृति में जिस पहाड़ के निर्माण में हजारों-हजार साल लगते हैं, हमारा समाज उसे उन निर्माणों की सामग्री जुटाने के नाम पर तोड़ देता है जो कि बमुश्किल सौ साल चलते हैं। पहाड़ केवल पत्थर के ढेर नहीं होते, वे इलाके के जंगल, जल और वायु की दशा और दिशा तय करने के साध्य होते हैं।

ऐसे में, देश के पर्यावरण और अस्तित्व के लिए लगभग उतनी ही महत्वपूर्ण विंध्य पर्वत श्रृंखला के प्रति लापरवाही जलवायु परिवर्तन के दौर में किसी बड़ी त्रासदी का आमंत्रण है। विंध्य पर्वतमाला देश के बीचों बीच गोलाकार पर्वत श्रृंखला है, जो उत्तर और दक्षिण भारत को पारंपरिक रूप से विभाजित करती है। नर्मदा घाटी के उत्तर तथा गंगा मैदान के दक्षिण में फैली 1,050-1,200 किलोमीटर लंबी यह श्रृंखला मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात और बिहार को जोड़ती है और चंबल, बेतवा, केन, सोन जैसी प्रमुख नदियों का उद्गम स्थल है। यह सतपुड़ा से मैकल पर्वत के माध्यम से जुड़ी रहती है। औसत ऊंचाई 600-900 मीटर वाली टूटी-फूटी पहाड़ियां जलवायु नियंत्रण और जैव विविधता के लिए आवश्यक हैं। विंध्य क्षेत्र में अवैध खनन से भूस्खलन, मिट्टी कटाव और भूजल क्षय का खतरा बढ़ा है। वनों की कटाई, प्रदूषण और जलवायु परिवर्तन से जैव विविधता का ह्रास हो रहा है, साथ ही बाढ़ और सूखे की आशंका बढ़ गई है। इलाके में मानव बस्तियों के विस्तार से भूकंपीय जोखिम भी है। कोई 1,200 किलोमीटर लंबी पर्वतमाला की सुध लेने वाला कोई नहीं है।

सरकार पहाड़ के प्रति बेपरवाह है, इसलिए पहाड़ की नाराजगी भी समय-समय पर सामने आ रही है। पहाड़, यानी बड़ी पर्वतमालाएं, स्थानीय छोटी पहाडियां, और पठार। पहाड़ देशभर की अधिकांश नदियों के उद्गम स्थल भी हैं। ये विभिन्न खनिजों का भंडार हैं और इनके पत्थर आधुनिक निर्माण कार्य की अनिवार्य सामग्री हैं, इसलिए इनका जमकर शोषण किया गया। गरमी, बरसात, ठंड- सभी मौसम में पहाड़ न केवल पर्यावरण को संरक्षित-संतुलित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, बल्कि हजारों किस्म की वनस्पति और जीव-जंतुओं की विलक्षण जैव विविधता का आश्रय स्थल भी होते हैं। बढ़ती आबादी के लिए आवास या मूलभूत सुविधाएं जुटाने का कार्य हो या फिर पेट भरने के लिए अन्न उगाने की चुनौती- हर समय निरीह-मौन पहाडों को ही उजाड़ा जाता है। एक पहाड़ के समाप्त होने का अर्थ है कि वहां पल रही जैव विविधता श्रृंखला का अंत।

पर्यावरण संरक्षण के लिए जंगल, पानी बचाने की तो कई मुहिम चल रही हैं, इसे विडंबना ही मानें कि पहाड़ों-पठारों के नैसर्गिक स्वरूप को उजाड़ने पर कम ही विमर्श है। समाज और सरकार के लिए पहाड़ अब जमीन या धनार्जन का माध्यम रह गए हैं। हजारों-हजार साल में गांव-शहर बसने का मूल आधार वहां पानी की उपलब्धता होता था। पहले नदियों के किनारे सभ्यता आई, फिर ताल-तलैयों के तट पर बस्तियां बसने लगीं। किसी भी आंचलिक गांव को देखें, जहां नदी का तट नहीं है- कुछ पहाड़, पहाड़ के निचले हिस्से में झील और उसे घेर कर बसी बस्तियों का ही भूगोल दिखेगा। वहां के समाज ने पहाड़ के किनारे बारिश की हर बूंद को सहेजने तथा पहाड़ पर नमी को बचा कर रखने की तकनीक सीख ली थी। हरे-भरे पहाड़, खूब घने जंगल वाले पहाड़ जिन पर जड़ी-बूटियां थीं, पक्षी थे, जानवर थे। जब कभी पानी बरसता, तो पानी को अपने में समेटने का काम वहां की हरियाली करती, फिर बचा पानी नीचे तालाबों में जुट जाता। बीते चार दशकों में तालाबों की जो दुर्गति हुई, सो हुई, पहाड़ों पर हरियाली उजाड़कर उसके पत्थर और खनिज निकाल कर गहरी खाइयां बना दी गईं। नंगे पहाड़ पर पानी गिरता है तो सारी पहाड़ी काट देता है, जिससे नदी-तालाब उथले हो गए।

भारत में कुल मिलाकर 15 प्रतिशत या 0.49 मिलियन वर्ग किलोमीटर भूभाग भूस्खलन के प्रति संवेदनशील है। भारत में भूस्खलन से सबसे अधिक प्रभावित हिस्से हिमालय, पश्चिमी घाट, नीलगिरी और विंध्य हैं। चूंकि जहां पर्यटन, धर्म और व्यापार है, वहां अंधाधुंध निर्माण से जब पहाड़ खिसकता है तो उसकी चर्चा देर तक और दूर तक होती है, लेकिन महाराष्ट्र के ऐसे बहुत से गांव हैं जहां पहाड़ गिरा तो पूरा गांव ही लुप्त हो गया। जहां अभी सलीके का पहुंच मार्ग नहीं है, वहां तबाही पर महज मुआवजे की खानापूर्ति ही पर्याप्त समझी जाती है।

> जहां पर्यटन, धर्म और व्यापार है, वहां अंधाधुंध निर्माण से जब पहाड़ खिसकता है तो उसकी चर्चा देर तक और दूर तक होती है, लेकिन महाराष्ट्र के ऐसे बहुत से गांव हैं जहां पहाड़ गिरा, तो पूरा गांव ही लुप्त हो गया

हिमालय के अलावा देश के जिन इलाकों में भूस्खलन हो रहा है, उनमें से अधिकांश सहाद्री, पश्चिमी घाट या पूर्वी घाट पर्वतमाला के करीब हैं। इन सभी स्थानों पर घटना के दौरान अचानक एक दिन में तीन से चार सौ मिलीमीटर बरसात हो जाती है। वजह? इन सभी स्थानों पर पहाड़ों पर बस्ती और खेत के लिए बेशुमार पेड़ काटे गए। जब मिट्टी पर पानी की बड़ी बूंदें सीधी गिरती हैं, तो एक तो ये मिटटी को काटती हैं, दूसरा बहती मिट्टी करीबी जल निधि- नदी-जोहड़-तालाब को उथला करती है। इन दोनों से पहाड़ ऊपर से और धरातल से कमजोर होता है। यही नहीं, इन सभी क्षेत्रों में निर्माण और खनन के लिए ताकतवर विस्फोटों का इस्तेमाल लंबे समय से हो रहा है।

पांच साल पहले केन्द्रीय पृथ्वी विज्ञान मंत्रालय द्वारा तैयार पहली जलवायु परिवर्तन मूल्यांकन रिपोर्ट में स्पष्ट चेतावनी दी गई थी कि समुद्र और बड़ी पर्वतमालाओं के आसपास के पहाड़ी इलाके बदलते मौसम के लिए सर्वाधिक संवेदनशील हैं और यहां चरम मौसम की मार से प्राकृतिक आपदाओं की अधिक आशंका है। ये सभी रिपोर्ट और उसकी चेतावनियां विकास के नाम पर पहाड़ों के साथ की जा रही बर्बरता के साथ जारी रहीं। ■

भारत के मूल विचारों के प्रतीक हैं जोहरान

न्यूयॉर्क के मेयर की जो सोच है, भारत को निरंकुश लोकतांत्रिक देश में बदल दिए जाने का इलाज इसी से किया जा सकता है

मलय मिश्रा

फोटो: गेटी इमेजेज

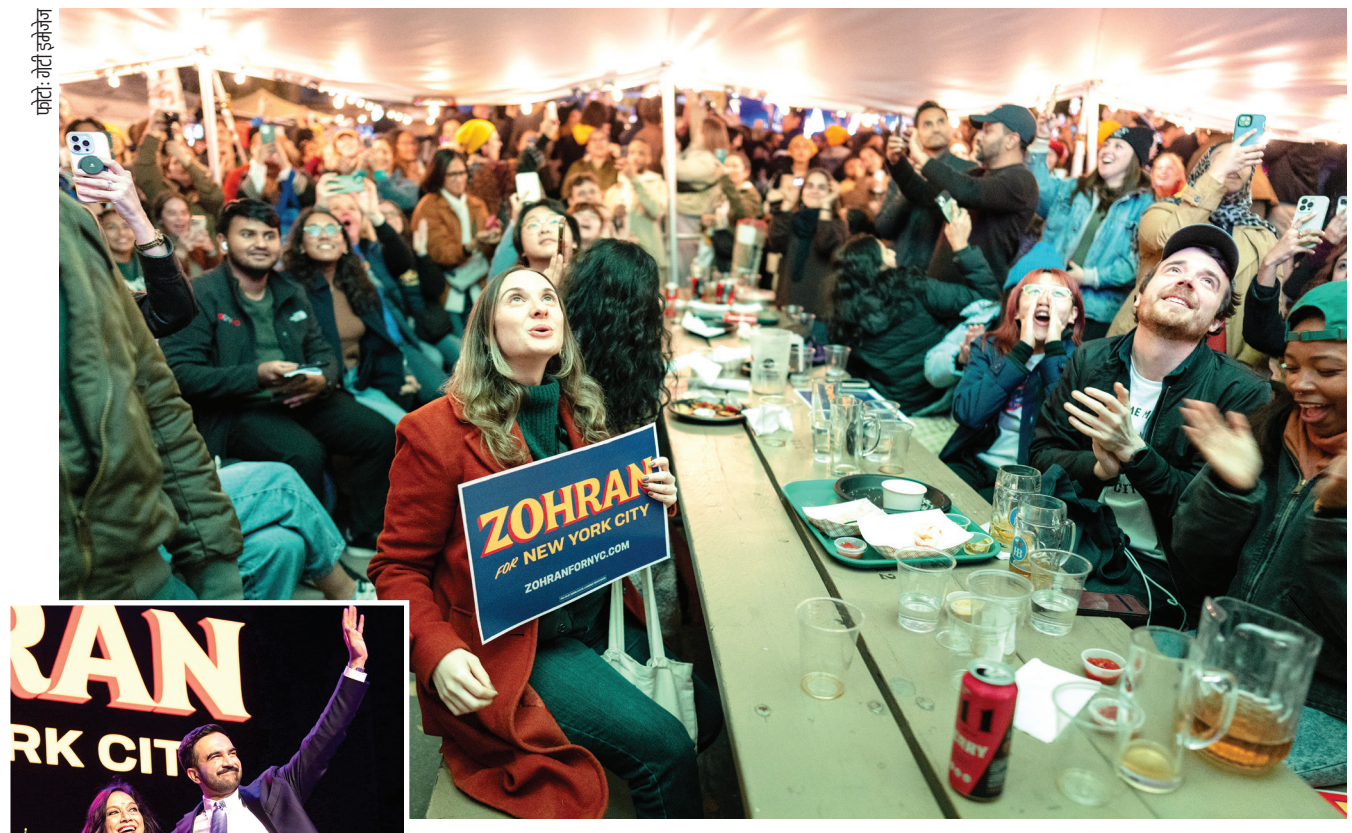

उत्साह न्यूयॉर्क में जोहरान ममदानी का जीत पर संबोधन और उसे सुनते उनके उत्साही समर्थक

जोहरान ममदानी ने अमेरिका के सबसे बड़े और महत्वपूर्ण शहर न्यूयॉर्क के मेयर पद की शपथ मैनहटन के एक बंद पड़े सब-वे में ली। सब-वे में इसलिए कि मजदूरों और हाशिये पर पड़े लोगों के प्रति अपने लगाव को दिखा सकें। गौरतलब है कि अपने चुनाव अभियान के दौरान ममदानी ने ऐसे लोगों की सेवा का वादा किया था। इस तरह ममदानी ने खुद को एक लोकतांत्रिक समाजवादी के रूप में पेश किया। उन्हें अमेरिकी राजनीति की जानी-मानी शख्सियत और लोकतांत्रिक समाजवाद की झंडाबरदार डेमोक्रेट सीनेटर बर्नी सैंडर्स ने शपथ दिलाई। शपथ के समय बर्नी सैंडर्स के बगल में प्रगतिशील कांग्रेसी एलेक्जेंड्रिया कोर्टेज भी खड़ी थीं।

ममदानी के ऐतिहासिक शपथ ग्रहण समारोह और मामदानी के चुनाव का अमेरिकी राजनीति पर पड़ने वाले असर के बारे में भारतीय मीडिया में शायद ही कोई कवरेज हुई। 34 साल के इस नेता ने एलीट, अमीर और अरबपतियों के गढ़, अमेरिकी यहूदियों के गढ़ का कार्यभार संभालकर कई पुरानी मान्यताओं को तोड़ दिया।

हालांकि, भारत में ममदानी अब भी 'निषिद्ध' हैं। सरकार ने अपने मीडिया हैंडल पर उन्हें नजरअंदाज किया जबकि उन्होंने दो बार के डेमोक्रेट गवर्नर एंड्रयू कुओमो को 50फीसद से ज्यादा वोट पाकर शानदार जीत हासिल की। दस लाख से ज्यादा न्यूयॉर्कवासियों ने, जो अलग-अलग जाति, धर्म, नस्ल और आर्थिक पृष्टभूमि के थे और जिनमें ज्यादातर अप्रवासी थे, ने ममदानी को वोट दिया। उनकी जीत ने पूरी दुनिया में हलचल मचा दी। यह सिर्फ उनका अपना देश भारत ही था जिसने अपने 34 साल के बेटे की इस अभूतपूर्व जीत पर उसे सलाम नहीं किया।

ममदानी के नाम ऐसी तमाम उपलब्धियां हैं जिन्हें पाने वाले वह पहले व्यक्ति हैं: अफ्रीकी मूल के पहले अमेरिकी जिनके पूर्वज एशियाई थे, पहले मुस्लिम और न्यूयॉर्क के सबसे कम उम्र के मेयर। 'सलाम बॉम्बे', 'मॉनसून वेडिंग' और 'नेमसेक' जैसी फिल्मों के लिए जानी जाने वाली विश्व स्तर पर प्रशंसित फिल्म निर्माता मीरा नायर और कोलंबिया यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर एमेरिटस और उत्तर-औपनिवेशिक काल के ख्यात विशेषज्ञ महमूद ममदानी (9/11 के फौरन बाद प्रकाशित 'गुड मुस्लिम बैड मुस्लिम' जो हफ्तों तक न्यूयॉर्क टाइम्स की बेस्टसेलर रही, के मशहूर रचनाकार) के बेटे जोहरान ने कभी भी एलीट विरासत में पैदा होने को अपना आदर्श नहीं माना।

इसके उलट, वह अप्रवासियों के पक्ष में खड़े रहे। न्यूयॉर्क में 150 से ज्यादा देशों के लोग रहते हैं। धर्मनिरपेक्ष और उदार सोच वाले ममदानी हर न्यूयॉर्कवासी की मुश्किलों के प्रति फिक्रमंद रहे हैं। फिलिस्तीनियों के नरसंहार में नेतन्याहू की भूमिका के बारे में खुलकर बोलने के बावजूद, उन्होंने यहूदी-विरोधी होने के आरोपों से खुद को तुरंत दूर कर लिया। अमेरिका के सबसे बड़े इसराइल समर्थक लॉबिंग ग्रुप अमेरिकन इसराइल पब्लिक अफेयर्स कमेटी (एपैक) और न्यूयॉर्क ज्यूइश फाउंडेशन ने कुओमो के लिए समर्थन जुटाने में सक्रिय भूमिका निभाई थी। हालांकि, नतीजों में यहूदी वोटों में बराबर बंटवारा देखने को मिला। युवा पीढ़ी ने ममदानी का साथ दिया जबकि बुजुर्ग, हसीदिक और अमीर यहूदियों ने बड़ी संख्या में कुओमो के लिए वोट किया।

राष्ट्रपति ट्रंप के ममदानी की कड़ी आलोचना, संघीय फंड रोक देने की धमकियों और डेमोक्रेट प्रतिद्वंद्वी कुओमो का खुलेआम समर्थन करने का भी ममदानी की बढ़ती लोकप्रियता पर कोई असर नहीं पड़ा। ममदानी को मार्क्सवादी और देशद्रोही कहकर ट्रंप ने उनका राजनीतिक करियर शुरू होने से पहले ही खत्म करने की कोशिश की। हालांकि, न्यूयॉर्क के मेयर ने व्हाइट हाउस में एक शिष्टाचार मुलाकात के लिए जाकर ट्रंप को भी अपना रुख नरम करने के लिए मजबूर कर दिया। इस मुलाकात के दौरान ममदानी ने इस बात पर जोर दिया कि उनका मुख्य मकसद सभी न्यूयॉर्कवासियों के लिए रहना-जीना सस्ता करना है, साथ ही मुफ्त ट्रांसपोर्ट, चाइल्डकेयर, सस्ते घर और सरकारी राशन की दुकानें देना है, जैसा कि उन्होंने अपने चुनाव प्रचार में वादा किया था। ट्रंप ने उन्हें जरूरी मदद का भरोसा दिलाया। इस घटना ने दक्षिणपंथी और वामपंथी, दोनों विचारधाराओं में बंटे राजनेताओं की परस्पर विपरीत तस्वीरें दिखाईं। एक, छोटी सोच वाला, बदले की भावना रखने वाला, अप्रत्याशित तो दूसरा, गलत के लिए अड़ने वाला, प्रतिबद्ध और निडर।

महान अहिंसक स्वतंत्रता संग्राम की बुनियाद पर आधारित अपनी धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक पहचान के साथ, भारत को ऐसे समय में जोहरान ममदानी जैसे व्यक्ति की ही जरूरत है जब दुनिया शक्तिशाली और विरोधी वैचारिक गुटों के बीच फंसी हुई है

साउथ अमेरिका में मौजूदा उथल-पुथल में जब ट्रंप ने सभी वैश्विक कायदे-कानूनों को तोड़ते हुए एक आजाद देश वेनेजुएला के चुने हुए राष्ट्रपति और उनकी पत्नी को 'गिरफ्तार' किया, तो अमेरिकी सिस्टम सचमुच ढह गया। मीडिया ज्यादातर और खतरनाक तरीके से खामोश रहा और कांग्रेस और सुप्रीम कोर्ट भी सत्ता के इस खुलेआम गलत इस्तेमाल के खिलाफ आवाज नहीं उठा रहे थे। ममदानी ने इस बेशर्मी भरे हमले की निंदा करते हुए इसे 'युद्ध की घोषणा' बताया।

अपने बेबाक विचारों (जिसमें नरेन्द्र मोदी को खुलकर फासीवादी कहना शामिल है) के लिए जाने जाने वाले ममदानी ने खुद को आम लोगों की पक्षधर विचारधारा का हामी दिखाया है। नेतन्याहू के साथ भी वैसा ही बर्ताव करते हुए उन्होंने इजराइली पीएम को चेतावनी दी कि वह कभी भी न्यूयॉर्क में कदम न रखें, क्योंकि वह उन्हें हजारों बेसहारा फिलिस्तीनी महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों और बीमारों का नरसंहार करके 'मानवता के खिलाफ अपराध' करने के लिए गिरफ्तार करवा देंगे। साथ ही उन्होंने फिलिस्तीनियों के अपनी जमीन पर निवास के अधिकार की भी बात की। ममदानी के पिता गुजराती के कच्छ इलाके के मुसलमान हैं जबकि मां हिन्दू पंजाबी। जोहरान की शादी सीरियाई मुस्लिम से हुई और उनके स्पष्ट उदार विचारों में महानगरीय संस्कृति झलकती है। इसके बावजूद उन्होंने एक ऐतिहासिक पुरानी कुरान पर हाथ रखकर मेयर पद की शपथ लेकर अपनी मुस्लिम विरासत को स्वीकारा। प्रचार के दौरान उन्होंने न्यूयॉर्क के सभी पांच क्षेत्रों में बड़ी संख्या में मुसलमानों से भेंट की और उनका लगभग एकमुश्त वोट हासिल किया। उनकी वैचारिक बातों पर गौर करें तो ममदानी एक उदार समाजवादी फ्रंट की ओर झुके दिखते हैं और मोटे तौर पर पिछले एक दशक के दौरान लोकतांत्रिक भारत को एक निरंकुश लोकतांत्रिक देश में बदल दिए जाने का इलाज इसी सोच से संभव है। महान अहिंसक स्वतंत्रता संग्राम की बुनियाद पर आधारित अपनी धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक पहचान के साथ, भारत को ऐसे समय में ममदानी जैसे व्यक्ति की जरूरत है जब दुनिया शक्तिशाली और विरोधी वैचारिक गुटों के बीच फंसी हुई है। हैरानी नहीं कि ममदानी ने नेहरू के मशहूर 'ट्रिस्ट विद डेस्टिनी' भाषण को कोट किया, जब वह बिना किसी कॉरपोरेट या राजनीतिक मदद के, सिर्फ लोगों के समर्थन से अपने सभी विरोधियों को अकेले ही हराकर अमेरिकियों की नई पीढ़ी के सबसे युवा नेता के रूप में उभरे।

अपनी मशहूर किताब 'द आइडिया ऑफ इंडिया' में जाने-माने राजनीतिक विज्ञानी सुनील खिलनानी लिखते हैं: 'आधुनिक भारतीय राजनीति अपनी पहचान के लिए राष्ट्रवादी नायकों का इस्तेमाल करती है और अपने व्यावहारिक संघर्षों में, यह राष्ट्रवादी दुनिया और उसके चरित्र से और दूर होती जा रही है। पुराने तर्क और संघर्ष आज की पीढ़ी के नए मतलबों और इच्छाओं के साथ फिर से दोहराए जा रही हैं: आम्बेडकर को एक बार फिर गांधी के खिलाफ और पटेल को नेहरू के खिलाफ खड़ा किया जा रहा है। भले ये संघर्ष हमें बांटते हों, लेकिन ये खुद एक साझा इतिहास, एक साझा भारतीय अतीत की मौजूदगी की गवाही देते हैं... ये संघर्ष 1947 के बाद से भारत के इतिहास की पहचान बनाते हैं। और, भारत क्या है, इस बारे में अलग-अलग विचारों को लगातार साथ लेकर चलने की अपनी क्षमता में, यह इतिहास खुद भारतीय विचार को व्यक्त करता है।'

भारत की ताकत उसकी सभ्यतागत विविधता, 'वसुधैव कुटुंबकम' की उसकी सदियों पुरानी परंपरा में है, और एक ही रंग से रंगने की कोई भी कोशिश असली भारतीय तस्वीर को जिंदा नहीं कर सकती। जोहरान ममदानी के विचार-बहुलवादी, उदार और अनमोल-नए भारत के मूल से मेल खाते हैं और उन्हें एक ऐसे नेता के रूप में अलग पहचान दिलाते हैं जिसे संजोकर रखना चाहिए। ■

डॉ. मलय मिश्रा पूर्व राजनयिक हैं। ये उनके अपने विचार हैं। सिंडिकेट: द बिलियन प्रेस

कैसे खुद ही सब कुछ बर्बाद करने पर तुले हुए हैं ट्रंप

पहली बार अमेरिका सराहनीय काम बंद कर रहा है, और नापसंदगी वाले काम बढ़ा रहा है

आकार पटेल

फोटो: गेटी इमेजेज

गोलीबारी मिनेसोटा में गोलीबारी के बाद का दृश्य जिसमें एक महिला को एक फेडरल ऑफिसर ने गोली मारकर मार डाला था

अमेरिका में तारीफ करने लायक बहुत कुछ है, और ऐसा भी कम नहीं है जिसे नापसंद किया जाए। सबसे ज्यादा तारीफ करने लायक बात है कि यह दुनिया के सबसे प्रतिभाशाली लोगों को अपनी ओर खींचने में कामयाब रहता है, और उन्हें अपने यहां आने के लिए खुला न्योता देता है।

अमेरिका की लगभग 15 प्रतिशत आबादी ऐसी है जो विदेश में पैदा हुई है। इसमें 50 लाख भारतीय भी शामिल हैं, और यह असल में अमेरिका की एक बड़ी दौलत है। कोई भी देश, जैसे भारत, एक बच्चे को पालने-पोसने और पढ़ाने-लिखाने, खाना खिलाने, रहने की जगह देने और कपड़े पहनाने में संसाधन खर्च करता है। बच्चा भारतीयों द्वारा सब्सिडी पाए हुए सबसे अच्छे सरकारी संस्थानों में पढ़ता है, और फिर 20 साल की उम्र में हमेशा के लिए अमेरिका चला जाता है। माइक्रोसॉफ्ट, गूगल और टेस्ला जैसी अमेरिकी कंपनियों और वहां के विश्वविद्यालयों को विदेश से आए ऐसे लोगों की प्रतिभा से लाभ होता है।

इन सब पर निवेश यहां हुआ, और उसका फायदा वहां हो रहा है। अमेरिका जैसी यह काबिलियत कुछ हद तक यूरोप ने भी अपनाई है। लेकिन चीन या भारत जैसे देशों में ऐसा नहीं है। हम न तो बाहर की प्रतिभा को आकर्षित करते हैं और न ही हम उसे चाहते हैं। अगर ईमानदारी से कहें तो हममें से लगभग ऐसे सभी लोग जो विदेश जाने की कुव्वत रखते हैं, विदेश चले जाते हैं, और आंकड़ों से ऐसा साबित भी होता है। आज अमेरिका इसे खत्म कर रहा है और उसका इरादा इतना पक्का है कि वह इसके लिए अमेरिकी कस्टम एंड इमिग्रेशन के हथियारबंद लोगों द्वारा आप्रवासियों की तलाश में उनके हाथों हो रही अपने नागरिकों की हत्याओं को भी ठीक मान रहा है। अमेरिका की तारीफ करने वालों को इसकी उम्मीद नहीं थी।

दूसरी तरफ, जो लोग दुनिया में अमेरिका के बर्ताव के बारे में जानते हैं, खासकर दूसरे विश्व युद्ध के बाद, उन्हें हमेशा वहां कुछ न कुछ बुरा नजर आता है। एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और यहां तक कि यूरोप में उसके लगातार दखल से करोड़ों लोगों को तकलीफें हुईं और उनका नुकसान हुआ है। 1950 के दशक में कोरियाई युद्ध से लेकर 1990 के दशक में सर्बिया तक और फिर 9/11 के बाद की उसकी बाजीगरी तक, हमेशा ऐसा ही रहा है।

ट्रंप का नया तरीका है, बेरहमी के साथ अपने सहयोगियों पर हमला। उन्हें कनाडा, ग्रीनलैंड और पनामा नहर चाहिए। बेचारे यूरोपीय डरे हुए हैं और उन्हें समझ नहीं आ रहा कि कैसे रिएक्ट करें

मेरे हिसाब से ऐसा पहली बार हो रहा है कि अमेरिका ने ऐसा रास्ता अपनाया है जब वह उस चीज को खत्म कर रहा है जिसकी तारीफ की जानी चाहिए, और उस चीज पर जोर दे रहा है जिसे नापसंद किया जाता है। अमेरिका के दरवाजे इमिग्रेशन के लिए बंद करके, वह अपना ही नुकसान कर रहा है। भारत वह देश है जहां एच1बी वीजा पाने वाले सबसे ज्यादा लोग हैं। ऐसा वीजा कुल लोगों का लगभग दो-तिहाई है। यह सच है कि ये लोग भारत में नहीं रहना चाहते और अगर मौका मिले तो अमेरिका जाना चाहते हैं, लेकिन वे किसी भी कंपनी में ऐसी प्रतिभा दिखाते हैं जिसकी नकल करना आसान नहीं है।

इसी तरह, ऐसे लोग भी जो बिना कागजात या अवैध तरीके से अमेरिका आते हैं, वे भी इसलिए आते हैं क्योंकि कुछ कर दिखाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को देश से निकालना और दूसरों को आने से रोकना, जैसा कि अभी हो रहा है, अमेरिका पर बुरा असर डाल रहा है और आगे भी डालेगा। पिछले एक साल में अमेरिका में बेरोजगारी बढ़ी है क्योंकि इमिग्रेशन पर हमले बढ़े हैं। ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि ऐसे कदमों से अर्थव्यवस्था को नुकसान हुआ है। जिस चीज की तारीफ होनी चाहिए थी, उसे बुरा साबित कर दिया गया है।

दूसरी तरफ देखें, तो अमेरिका एक ऐसा रास्ता अपना रहा है जो विदेशों में हिंसा के मामले में अपनी साम्राज्यवादी सोच को जारी रखता है, लेकिन अब इसमें एक और तेजी आ गई है। यह साम्राज्यवाद हम वेनेजुएला पर हमले, उसके नेता और उनकी पत्नी के अपहरण, और उसके तेल भंडार पर कब्जे के रूप में देख सकते हैं। इस घटना में दर्जनों लोगों की हत्या हुई, लेकिन अमेरिकी प्रेस में इसका बहुत कम जिक्र हुआ और कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। ईरान पर बमबारी और इसराइल को उसके सभी पड़ोसियों पर हमला करने में मदद करना भी दूसरे विश्व युद्ध के बाद के आम ट्रेंड का हिस्सा है।

डॉनल्ड ट्रंप ने जो नया तरीका अपनाया है, वह है बेरहमी के साथ अपने सहयोगियों पर हमला। उन्हें कनाडा चाहिए, उन्हें ग्रीनलैंड चाहिए, उन्हें पनामा नहर चाहिए। बेचारे यूरोपीय, जो लंबे समय से सिर्फ नस्ल के आधार पर अमेरिका के साथ भाईचारा मानते आए हैं, डरे हुए हैं और उन्हें समझ नहीं आ रहा कि कैसे रिएक्ट करें। उन्होंने एकजुट होने का दिखावा तो किया है, लेकिन अगर ट्रंप अपने सैनिकों को ग्रीनलैंड भेज देते हैं, तो वे ज्यादा कुछ नहीं कर पाएंगे।

जापान और कोरिया, ऐसे देश हैं जिन्होंने सुरक्षा और व्यापार में अमेरिका का साझीदार बनने के लिए खुद से पहल की थी और जो दशकों से सहयोगी रहे हैं, उन्हें अब ट्रेड डील के लिए ब्लैकमेल किया जा रहा है। भारत, जो अमेरिका के करीब रहना चाहता था, खासकर पिछले दो बार के प्रधानमंत्रियों के समय में, और जिसके नेता ने अमेरिका में भारतीयों से ट्रंप को वोट देने के लिए कहा था, वह भी भौंचक है।

हम उस नाकाबिलियत और पूरी नासमझी के बारे में बात कर सकते हैं जिसके साथ हमारी सरकार ने ट्रंप की तरफ हाथ बढ़ाया है, लेकिन फिलहाल इसे छोड़ सकते हैं। आज हम अमेरिका और वह खुद के साथ क्या कर रहा है, इस बारे में बात कर रहे हैं।

पुराने समय के बड़े साम्राज्य आमतौर पर लंबे समय में खत्म हुए। रोम को खत्म होने में सदियां लग गईं। आधुनिक युग में, यह तेजी से हो रहा है। अंग्रेज 1911 में दिल्ली की ऊंचाइयों से गिरकर युद्ध के बाद 1945 में गंभीर संकट में आ गए। सोवियत संघ कुछ ही हफ्तों में गायब हो गया। लेकिन इनमें से किसी भी बड़ी शक्ति ने खुद को उतना नुकसान नहीं पहुंचाया जितना आज अमेरिका कर रहा है।

ट्रंप उन दूसरे देशों से आई प्रतिभाओं को नफरत से खारिज कर रहे हैं जिसने अमेरिका को इतना कुछ दिया है, और उस सिस्टम को खत्म कर रहे हैं - यानी 'नियमों पर आधारित व्यवस्था' - जिसे अमेरिका ने खुद दुनिया पर राज करने के लिए बनाया था।

ट्रंप ने जो किया है और कर रहे हैं, उससे अमेरिका को फौरी और दीर्घ अवधि में नुकसान हुआ है। यह उन लोगों के लिए उतना ही दुखद है जिन्होंने लंबे समय से अमेरिका की तारीफ की है, जितना कि उन लोगों के लिए संतोषजनक है जो उसके कामों को नापसंद करते हैं। ■

हिन्दी किताबें खरीदने-पढ़ने की आदत डालें

हालात बदल रहे हैं। पिछले दस-पंद्रह बरस में भारत के बाल साहित्य का कायाकल्प हो गया है

योगेन्द्र यादव

अगर आपको हिन्दी से प्रेम है, तो कुछ ऐसा कीजिए जिससे बच्चों को हिन्दी भाषा का चस्का लग जाए। उन्हें हिन्दी बोलने ही नहीं, पढ़ने और लिखने में रस आना शुरू हो जाए। उनके लिए हिन्दी सिर्फ गपियाने और गलियाने की ही नहीं, बल्कि अपने आपको और देश-दुनिया को समझने-समझाने की भाषा बन जाए। उन्हें हिन्दी बोलने में झेंप ना आए। बिना वजह टूटी-फूटी अंग्रेजी न बोलें।

यह तब होगा जब हिन्दी में बच्चों के लिए अच्छा साहित्य उपलब्ध हो। वह तब होगा जब हिन्दी के बेहतरीन लेखक बच्चों के लिए लिखें, या फिर बच्चों के लिए अच्छा लिखने वाले प्रतिष्ठित लेखक के रूप में मान्यता पाएं। हिन्दी में इस दोनों का अभाव रहा है। अंग्रेजी में बाल साहित्य की महिमा है। हैरी पॉटर लिखने वाली जे के राउलिंग्स या फिर ग्रफलो की रचयिता जूलिया डोनाल्डसन दुनिया भर में शोहरत पाती हैं। बंगला, मराठी और मलयालम में भी बाल लेखन की परंपरा रही है। लेकिन हिन्दी के बाल साहित्य के लेखक को तो उसकी गली में भी कोई नहीं पूछता। साहित्यकारों की दुनिया में भी छोटे बच्चों के लिए लेखन को छोटा लेखन समझा जाता है।

नतीजतन, हिन्दी के बाल साहित्य में कई दशकों तक ठहराव रहा। वहीं चंदामामा, नंदन और चंपक, वही चाचा चौधरी, वेताल और अमर चित्र कथा, या अकबर-बीरबल, पंचतंत्र और पौराणिक कथाओं पर आधारित सपाट किताबें। आधुनिकता का मतलब समझा जाता है अंग्रेजी। इसलिए बच्चों को अंग्रेजी से अनूदित ऐसी कहानियां पढ़ाई जाती है जिनके संदर्भ, कथानक और पात्रों का भारतीय बच्चे से कोई संबंध नहीं। अपने स्व से अलगाव से शुरू होता है एक औसत हिन्दुस्तानी का हीनता बोध जो अक्सर फूहड़ और आक्रामक स्वरूप लेता है।

लेकिन अच्छी खबर ये है कि हालात बदल रहे हैं। पिछले दस-पंद्रह बरस में भारत के बाल साहित्य का कायाकल्प हो गया है। शुरुआत अंग्रेजी से हुई जहां सुनहरे बालों और नीली आंखों वाले गोरे बच्चों की बजाय हमारे सांवले बच्चों के सलोने या फिर खट्टे-मीठे जीवन पर कहानियां लिखने की शुरुआत हुई। एक जमाने में भारत सरकार के नेशनल बुक ट्रस्ट और चिल्ड्रेन बुक ट्रस्ट ने भी यह शुरुआत की थी, लेकिन फिर वह सरकारी तंत्र में कहीं दब गईं। पिछले कुछ साल से कुछ संस्थानों के प्रयास से हिन्दी में बदलाव की बयार बह रही है।

दिल्ली में चल रहे विश्व पुस्तक मेले में आप हिन्दी के नए बाल साहित्य की झलक देख सकते हैं। यूं तो मेले के 6 नंबर हॉल में पेश बाल साहित्य में अंग्रेजी और अंग्रेजी से अनूदित साहित्य का बोलबाला है। लेकिन अगर आप उस चमक-धमक में 'एकतारा' और 'एकलव्य' के सादे स्टॉल को खोज पाएं, तो आपको हिन्दी के बाल साहित्य की नई चमक दिखाई देगी। इकतारा के जुगनू प्रकाशन ने निस्संदेह हिन्दी के बाल साहित्य के अंधकार में जुगनू की तरह रौशनी फैलाई है। इस एक स्टॉल से आप बच्चों के लिए एक शानदार लाइब्रेरी बना सकते हैं — नन्हे बच्चों के लिए शब्दरहित चित्र पुस्तकें, नाना प्रकार और आकार की कहानी और कविता की पुस्तकें, पोस्टर, कैलेंडर, कविता कार्ड, किशोर अवस्था के लिए उपन्यास और बहुत कुछ। उनकी दोनों बाल पत्रिकाएं — बच्चों के लिए 'प्लूटो' और किशोरों के लिए 'साइकिल' पढ़कर आप खुद भी लुत्फ ले सकते हैं।

इसी तरह एकलव्य के स्टॉल पर आपको हिन्दी के बाल साहित्य का 'पिटारा' मिलेगा। ग्रामीण बच्चों के लिए विज्ञान शिक्षण से शुरू हुई यह संस्था बच्चों के लिए कथा साहित्य भी प्रकाशित कर रही है, नए प्रयोग कर रही है, देश के हर कोने और समुदाय के बच्चों के अनुभव को समेट रही है। उनके स्टॉल पर आपको शिक्षण सामग्री, शिक्षा साहित्य और हिन्दी की किताबों का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी मिलेगा। ज्ञानवर्धक सामग्री और मनोरंजन से भरपूर उनकी बाल विज्ञान पत्रिका 'चकमक' किसी भी स्कूल के लिए अनिवार्य होनी चाहिए।

बाल साहित्य विश्व पुस्तक मेला में बच्चों से संबंधित पुस्तकें देखते लोग

ग्रामीण बच्चों के लिए विज्ञान शिक्षण से शुरू हुई संस्था एकलव्य बच्चों के लिए कथा साहित्य भी प्रकाशित कर रही है। इकतारा के जुगनू प्रकाशन ने निस्संदेह हिन्दी के बाल साहित्य के अंधकार में जुगनू की तरह रोशनी फैलाई है

'मुस्कान' का अपना स्टॉल नहीं है लेकिन अंतिम पायदान पर बैठे कूड़ा बीन रहे बच्चों की आपबीती आपको उनकी किताबों में दिखेगी। प्रथम बुक्स में भी आपको भारतीय संदर्भ में बसी हिन्दी की सुंदर और सुसज्जित किताबें मिलेंगी। हालांकि उनमें से ज्यादातर अनूदित हैं, लेकिन अनुवाद अच्छा होने के कारण खटकता नहीं। अगर आप नेशनल बुक ट्रस्ट और चिल्ड्रेन बुक ट्रस्ट में उनकी पुरानी किताबें खोजेंगे, तो कुछ काम की किताबें मिल सकती हैं। गौरतलब है कि उपरोक्त सभी संस्थाएं गैर व्यावसायिक हैं। हिन्दी के बड़े व्यावसायिक प्रकाशकों को अभी तक बाल साहित्य में दिलचस्पी नहीं जगी है।

अच्छी खबर यह भी है कि इधर हिन्दी के नामचीन लेखकों ने भी बच्चों के लिए लिखा है। गीतकार और शायर गुलजार तो पिछले कई दशकों से बच्चों के लिए लिख रहे हैं। जुगनू प्रकाशन उनकी चौदह नई कहानियों का एक सेट लेकर आया है, जिसमे एलेन शॉ के चित्रों ने जान डाल दी है। हर किताब का अपना अलग अंदाज है और अलग पाठक वर्ग है। बहुत कम लोग जानते हैं कि हिन्दी के मूर्धन्य लेखक विनोद कुमार शुक्ल, जिनका हाल ही में निधन हुआ, उन्होंने अपने अंतिम वर्षों में बच्चों के लिए कविताएं, कहानियां और उपन्यास लिखे। इन दिनों हिन्दी के स्थापित लेखक और साहित्यकार अरुण प्रकाश, प्रियंवद, राजेश जोशी, असगर वजाहत, प्रयाग शुक्ल, कृष्ण कुमार, उदयन वाजपेयी और लाल्टू भी बच्चों के लिए लिख रहे हैं। साथ ही बच्चों के लिए लिखने वाले कुछ लेखक भी अब धीरे धीरे दुनिया की नजर में आने लगे हैं। इनमें मेरे प्रिय लेखक हैं सुशील शुक्ल जिनकी सीधी-सरल कविताएं गुदगुदाने के साथ दिमाग की खिड़की भी खोल देती हैं। बाल लेखन के सितारों में शशि सबलोक, प्रभात, चन्दन यादव और वरुण ग्रोवर के नाम जोड़े जा सकते हैं। बच्चों की किताबों की जान है चित्रांकन। अब तापोशी घोषाल, प्रशांत सोनी, राजीव आईपे सरीखे कलाकारों की एक जमात उभर रही है जो बच्चों की किताबों को आकर्षक बना रही है।

आप भी इस पुस्तक मेले में जाइए और बच्चों को बर्थडे गिफ्ट में हिन्दी किताबें देना शुरू कीजिए। एक सरकारी हिन्दी दिवस पर उसकी पूजा करने से हिन्दी का उत्थान होने वाला नहीं है। अगर आप मन से अपनी भाषा की समृद्धि चाहते हैं, तो हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के झूठे दावे से बाज आइए। राजभाषा की हैसियत से बाकी भारतीय भाषाओं पर धौंसपट्टी मत कीजिए। हिन्दी-उर्दू के झूठे झगड़े को बंद कीजिए। बच्चों को मातृभाषा के उपदेश न दीजिए। बस हिन्दी का इस्तेमाल करना शुरू कर दीजिए। ■

जिन्होंने दी औपनिवेशिक समझ को चुनौती

माधव गाडगिल ने लंबा समय पश्चिम घाटी को संवर्धित करने के जन प्रयास में बिताए, वानिकी को समझने-सहेजने में लगे रहे

मीनाक्षी नटराजन

माधव गाडगिल नहीं रहे। गाडगिल ने भारतीय पारिस्थिकी केन्द्र के संस्थापक और संचालक के रूप में गहन पर्यावरणीय काम किया। यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने एक पूरी सदी की औपनिवेशिक पर्यावरणीय समझ को चुनौती दी। वन्य प्राणी अभ्यारण्य, नैसर्गिक विशिष्ट संरक्षित स्थान बनाना अपने आप में अंग्रेजी साम्राज्यवादी विस्तार की देन थी। प्रकृति और मानव समाज के लिए अलग-अलग रिहायशी इलाके तय करना उसी का भाग है, वरना सदियों से स्थानीय जन समूह प्रकृति के साथ प्राकृतस्थ होकर रहते रहे हैं। उनकी जीवन शैली में ऐसा कोई खाका नहीं है। आज भी सर्वाधिक वन संपदा उन्हीं इलाकों में है जहां जनसमूह की घनी आबादी है। उनकी संस्कृति प्रकृति में बसती है।

इस दौर में सत्तारूढ़ लोग संस्कृति के प्रति बड़ी चिंता जता रहे हैं। संस्कृति को भले ही कई पाश्चात्य मानवशास्त्री मिथक मानते हैं, संस्कृति इन मिथकों से भले पोषित होती है, पर संस्कृति ही सभ्यता की कहानियां कहती है, वह सभ्यता का ननिहाल है। सांस्कृतिक तजुर्बे को सहेजना हर देश के लिए जरूरी है। पर यह याद रखना चाहिए कि संस्कृति का बीज प्रकृति है। बिना प्रकृति के किसी तहजीब का कोई मायने नहीं है।

प्रकृति को नेस्तनाबूद करते ही संस्कृति खुद-ब-खुद विलीन हो जाएगी। शेष बचेगा बाजार। गंगा-जमुनियत पर थोपा जा रहा बाजार और एकाधिपत्य हमारी हिमालयी संस्कृति और प्रकृति की जड़ों को काट रहा है। यदि भारतीय उपमहाद्वीप की संस्कृति को समझना है तो पहले उसकी प्रकृति को समझना होगा। उस प्रकृति ने हमें पहचान दी है और सांस्कृतिक चेतना को पनपाया है। ख्याल रहे कि भारत के आबाद होने के बहुत पहले हमारी प्रकृति बन चुकी थी। पारिस्थिकी ढांचा तैयार होने लगा था।

आज हम वह देश हैं जहां दुनिया की सबसे पुरानी और सबसे छोटी पहाड़ी है। ऐसी नदियां हैं, जो बहुत छोटी है और ऐसी जो बहुत पुरानी। आज हमारी दोनों पहाड़ियों का अस्तित्व डगमगा रहा है। हमारे स्वार्थ और बाजार के कारण।

भारत की प्रकृति का भूगर्भीय इतिहास इतना सुंदर, पुराना और कौतूहल भरा है कि उसकी समय-सीमा की सहज कल्पना नहीं की जा सकती। अरावली की पहाड़ी तब बन चुकी जब भारत आज के भूगोल का भाग नहीं था। जब भारत, अफ्रीका, मेडागास्कर आदि एक साथ थे। यहां तक कि सबसे पुराने प्रायद्वीपों के बनने और बिछुड़ने से पहले वह बनने लगा था। अरावली की पहाड़ी तीन बिलियन साल की विरासत को संजोए हुए है जबकि प्राचीनतम प्रायद्वीप कोलंबिया, रोदिनिया और गोंडवाना भी बने-बिछुड़े नहीं थे। गोया कि यह सारे नाम भूगर्भ वैज्ञानिकों द्वारा दिए गए हैं। जब दो क्रेटनिक पत्थर समूह टकराए, तब अरावली की पहाड़ियां बनने लगीं। यह आज भी उतने साल पहले की भूगर्भीय निशान को धारण करती है।

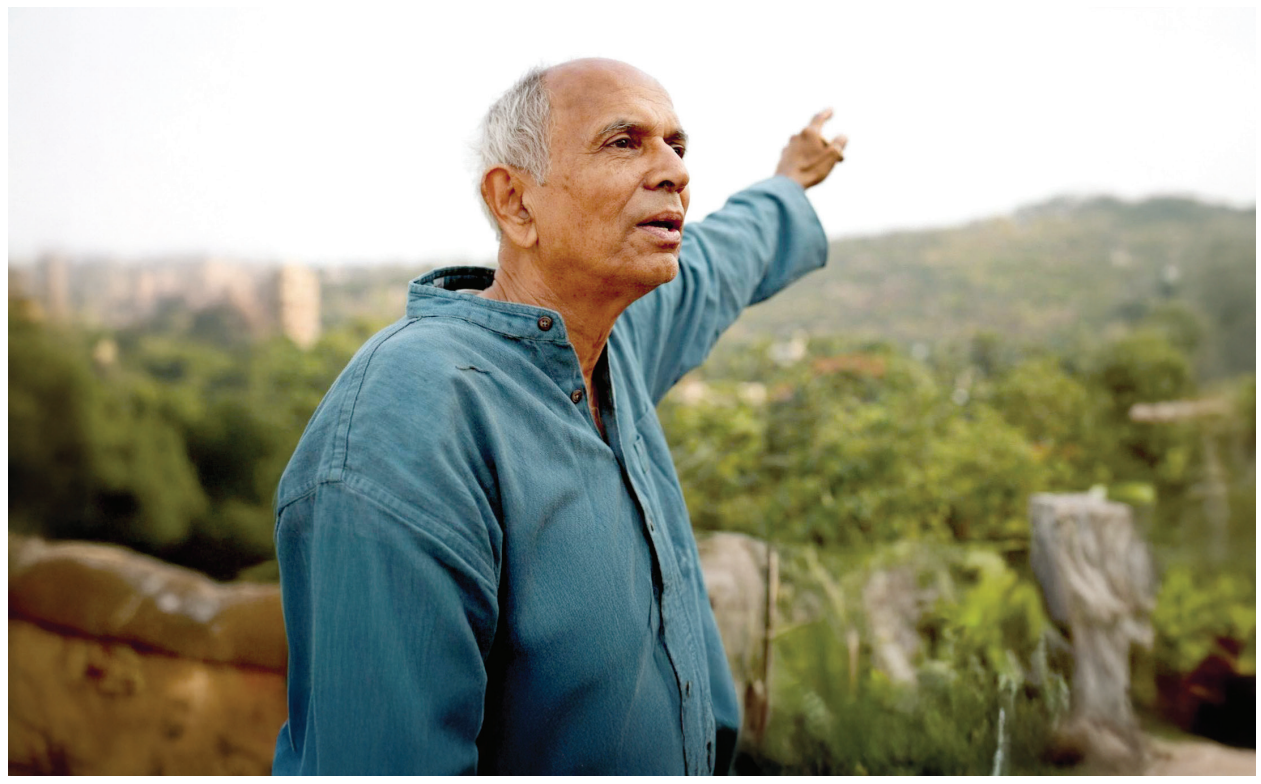

समर्पण पर्यावरण और पारिस्थितिकी के लिए समर्पित रहे माधव गाडगिल

अरावली पहाड़ की प्राचीनतम चगोस लखदीव चोटी का दक्षिणी हिस्सा अरब सागर में डूबा हुआ है। इसी चोटी पर लक्षद्वीप के मूंगा प्रवाल वलय बने हैं। उन पर मूंगा वलय दिखाई देते हैं। यानी अरावली की दक्षिणी चोटी पर ही लक्षद्वीप के प्रवाल हैं। कितनी हैरतंगेज बात है कि उत्तर भारत की एक निष्ठुर पर्वत श्रृंखला का दक्षिणी भाग प्रवाल समुद्री द्वीप में तब्दील हो गया। वह भी आज जलवायु परिवर्तन से जूझ रहा है। अरावली ही है जो उत्तर भारत को अनावश्यक बवंडर, मौसमी दबाव से बचाती है। हमारे तहजीब को तटस्थता प्रदान करती है।

घाटियों-पहाड़ों का खरबों साल का इतिहास बताता है कि वे बहुत पहले के हैं। सेपियन्स और आदि मानव से भी पहले के हैं। वे तो अपना रुख मोड़ लेंगे। मगर तब तक शायद हम नहीं बचेंगे

ऐसी ही विरासत पश्चिम और पूर्वी घाटी की पर्वत श्रृंखलाओं की है। माधव गाडगिल ने अपने जीवन का लंबा समय पश्चिम घाटी को संवर्धित करने के जन प्रयास में बिताए। पश्चिम घाटी की ढलान और उठाव भारत के यूरेशियाई टकराव का नतीजा है। जब अरब सागर बन गया और हमारी पारिस्थिकी स्थान में आमूल परिवर्तन आया- करीब 200 से 150 मिलियन साल पहले। आज की पूर्व की ओर बहती पश्चिमी नदियां उस टकराव से भी पहले की जल व्यवस्था है। पूर्वी घाटी में आज भी पूर्वी अंटार्टिका के पहाड़ी चिन्ह और वानस्पतिक समताएं देखी जाती हैं।

हिमालय की पहाड़ी उसी भूगर्भीय टकराव का नतीजा है- सबसे शैशव अवस्था के पहाड़। ऐसे ही अंडमान के द्वीप समुद्री तल में दब चुके मलेशियाई पहाड़ श्रृंखला का हिस्सा हैं।

आज इन सब पर हमला जारी है। मानव इतिहास में एक तरफ स्वार्थवश तेजी से प्रकृति के दोहन की मिसाल है, तो दूसरी तरफ जन समूहों के द्वारा अपनी प्रकृति के साथ सौहार्दमय जीवन जीने के भी अनेक उदाहरण हैं। जल, जंगल, जमीन के साथ के अंतर्संबंध निसर्ग को जीवंत रखते हैं। वन विभाग के बजाय जन समूह के जरिये वन संवर्धन की पहल माधव गाडगिल जी का बड़ा योगदान था। हालांकि व्यावसायिक चाय काफी बागान मालिकों ने उनकी रिपोर्ट को लागू होने नहीं दिया। उसकी गहन आलोचना हुई, उन्हें जन विरोधी कहा गया। मगर उनकी अपनी प्रतिबद्धता विज्ञान और पर्यावरण को लोकोन्मुखी बनाने पर अडिग रही।

जब पर्यावरण की बात आती है, तब यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि बात पर्यावरण बचाने की नहीं है। इन सब घाटियों-पहाड़ों का खरबों साल का इतिहास यह बताता है कि वे इतिहास से बहुत पहले के हैं। सेपियन्स और आदि मानव से भी पहले के हैं। उनके सामने भौतिकी, रसायनिकी और जीव विज्ञान पनपे। वे इस धरती के पहले-पहल निवासी हैं। तो वे अपना ख्याल रख लेंगे, अपने को बदल लेंगे, अपना रुख मोड़ लेंगे। मगर तब तक शायद हम नहीं बचेंगे।

गाडगिल इस बात को पक्के तौर जान गए थे और इसलिए निरंतर जन समूहों के साथ वानिकी को समझने-सहेजने में लगे रहे। आज के घोर संकट काल में यही एकमात्र रास्ता है कि जन समुदाय के नैसर्गिक विवेक के साथ अपने को बचाया जाए। अरावली पश्चिम पूर्वी घाटी हिमालय तो खुद को बचा ही लेंगे। धरती अपने को मोड़ ही लेगी। वरना संस्कृति को विकृति होने से कोई नहीं बचा पाएगा। ■

Published Date 18 January, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

‘दुआर’ खड़ा किताबघर

किताबों से दूरी वाली बहस के बीच नई उम्मीद है उरांव जनजाति के कामगारों का यह पुस्तकालय

सिमरन उरांव

पहल समुदाय के लिए पुस्तकालय बनाने का यह प्रयास सबको भा रहा है। लोग इसके लिए खूब किताबें दे रहे हैं

अंश उरांव (15) ने सवाल किया, “दीदी, क्या हम सच में यहां अपनी भाषा पढ़ सकते हैं?” उसके हाथों में कुरुख भाषा की एक किताब थी। हम पश्चिम बंगाल के जलपाईगुड़ी जिले के एक स्कूल में थे जहां चाय बागान मजदूरों के बच्चे पढ़ने आते हैं। वह बागान, जहां मेरे और अंश के माता पिता काम करते हैं, लीश नदी के पास स्थित है।

ज्यादातर श्रमिकों की तरह ही हमारा परिवार भी उरांव जनजाति से है। हमारे पूर्वज चार पीढ़ी पहले छोटा नागपुर के पठारी इलाकों यानी झारखंड के रांची, गुमला, सिमडेगा जैसे जिलों से आए थे। घर पर अब भी समुदाय की भाषा कुरुख ही बोली जाती है, लेकिन बाहर हम हिन्दी और बंगाली बोलते हैं। इसलिए अंश ने अपनी मातृभाषा की कोई किताब कभी नहीं देखी थी।

मैं यहीं लीश रिवर चाय बागान के पाटीबाड़ी इलाके में पली-बढ़ी हूं। जनगणना हैंडबुक में इसका नाम ‘लिशरिवर’ है, लेकिन गांव वाले और स्थानीय प्रशासन के लोग इसे ‘लीश रिवर’ ही कहते और लिखते हैं।

चायपत्ती की टोकरी लेकर चाय बागान जाती महिलाएं, फैक्ट्री जाते पुरुष और नीले-सफेद रंग के अपने पुराने स्कूल यूनिफॉर्म में स्कूल जाते बच्चे, यह यहां रोज का नजारा है। मेरे माता-पिता बागान में काम करते हैं, जहां मौसम के अनुसार लोगों के काम बदलते रहते हैं। जैसे चाय की पत्तियां तोड़ना, झाड़ियों की छंटाई, खाद या उर्वरक का छिड़काव, या फिर आसपास उगी वनस्पतियों की सफाई करना।

छोटे बच्चे सरकार द्वारा चलाए जा रहे पाटीबाड़ी प्राथमिक विद्यालय (कक्षा 1 से 5) में पढ़ते हैं। उच्चतम माध्यमिक विद्यालय भी इसी विद्यालय परिसर में स्थित है। 30 नवंबर 2024 को मैंने स्कूल के एक खाली कमरे में एक पुस्तकालय शुरू किया। यह दिन में दो बार सुबह 9 बजे से दोपहर 12 बजे और दोपहर 3 बजे से शाम 6 बजे तक खुलता है।

पहले दिन, मैंने जोर से पढ़कर हिन्दी में सबको एक कहानी “दादाजी का छाता” सुनाई। इसमें बताया गया था कि दादाजी का छाता बारिश से बचाने के अलावा भी और कई तरह से इस्तेमाल हो सकता था, जैसे फल तोड़ने में। संदेश यह कि समझदारी से उपयोग किया जाए, तो एक ही वस्तु से कई काम लिए जा सकते हैं। अंत में मैंने पूछा, “तुम्हें इससे क्या सीख मिली?” एक छोटी लड़की चित्र की ओर इशारा करते हुए चिल्लाकर बोली, “गुरुजी से ज्यादा बंदर मजेदार है”, यह सुनकर सब हंसने लगे। सामूहिक हंसी की वह गूंज पुस्तकालय को जीवंत करने वाली थी।

*

लीश नदी, पश्चिमी दुआर स्थित, उत्तर बंगाल में लगाए गए शुरुआती बागानों में से एक है। पाटीबाड़ी इसके तीन भाग में से एक है, जबकि लीश और होप अन्य दो भाग हैं। इस चाय बागान को नाम देने वाली नदी की उत्पति कालिम्पोंग जिले से है और बहते हुए तीन गांवों से गुजरकर अंत में तीस्ता नदी में मिल जाती है। चाय बागान में दिन बहुत जल्दी शुरू होता है। महिलाएं लगभग साढ़े चार बजे उठती हैं, खाना बनाती हैं, जिसमें सामान्यतः चावल या रोटी, नमक और उपलब्ध होने पर कोई सब्जी शामिल होती है, और फिर काम पर निकल जाती हैं। सुबह छह बजे तक मजदूरों के समूह कपड़े का झोला लिए चाय की झाड़ियों की ओर जाते हुए दिखाई देने लगते हैं। स्कूल सुबह 10 बजे शुरू होता है, इसलिए बच्चे खुद ही तैयार होते हैं और खुद ही घर के कुछ काम भी करते हैं। हर घर में पानी की सुविधा नहीं है, इसलिए बच्चों को ही पड़ोस के किसी घर या सामुदायिक हैंडपंप से पानी भरकर लाना पड़ता है। कुछ बच्चे केवल मध्याह्न भोजन के लिए ही स्कूल आते हैं। कई आठवीं के बाद पढ़ाई छोड़ देते हैं और बारहवीं से आगे कम ही पढ़ पाते हैं। वे चाय बागान में काम करने लगते हैं या फिर मजदूरी करने के लिए दूसरे राज्यों में चले जाते हैं। कॉलेज तक कम ही बच्चे पहुंच पाते हैं।

*

मैं एक सामुदायिक पुस्तकालय खोलना चाहती थी। इसका मकसद महज परीक्षा की तैयारी कराना नहीं, बच्चों को पढ़ने, कहानियां सुनने-सुनाने और खुशियां बांटने की जगह तैयार करके देना था। चाहती थी कि बच्चे किताबों से डरें नहीं, उन्हें प्यार करें। स्कूल परिसर में एक खीली पड़ा एक ऐसा कमरा भी था जिसका निर्माण के बाद से कोई इस्तेमाल नहीं हुआ था। प्रधानाध्यापक सज्जन मोक्तान ने पूरा सहयोग दिया। उन्होंने कहा, “हां, यह कमरा ले लो। अगर यह बच्चों के लिए है, तो बिल्कुल अच्छा है।” इसके बाद मैं दो पंचायत सदस्यों से मिली। उन्होंने ध्यान से सुना और कहा, “हमारा पूरा समर्थन है।” उनसे मिला यह प्रोत्साहन व्यापक समुदाय की ओर से पुस्तकालय को मान्यता देने वाला था।

कमरे के अंदर तमाम गंदगी और बाहर का हिस्सा घास-फूस से भरा हुआ था। हमने सफाई शुरू की तो गांव के लड़के-लड़कियां मदद को आ गए। दो हफ्ते लगे और साफ-सफाई के बाद पेंटिंग करके, बांस के बाड़ और दराज लगाकर हमने इसकी रंगत बदल दी।

वहां से गुजरते एक व्यक्ति ने पूछा, “ क्या बन रहा है?”

मैंने कहा, “पुस्तकालय”। वह हंसकर बोला, “कौन आएगा पढ़ने?” शाम को जब मजदूर चाय की पत्तियां लेकर लौटते हैं, मैं गोदाम गई। गोदाम खुला हुआ था और खासी चहल-पहल थी। वातावरण में चाय पत्तियों की महक और लोगों की बातचीत घुली हुई थी। मैंने उनसे पुस्तकालय और उनके बच्चों के लिए उसके महत्व पर चर्चा की।

बेहद सकारात्मक प्रतिक्रिया रही। एक महिला बोली, “अगर मेरी बेटी को स्कूल के बाद पढ़ने की जगह मिल जाए, तो मुझे खुशी होगी।” एक आदमी ने पूछा, “जब तुम यहां नहीं रहोगी, इसे कौन चलाएगा?” कोई मजाक में बोला, “अगर तुम किताबें लाती हो, तो मैं तुम्हें एक कुर्सी दूंगा।” लोग मदद करने लगे। कुछ ने सिक्के दिए, किसी ने 20 रुपये, किसी ने 100 रुपये, जितना वे दे सकते थे। हमने लगभग 6,000 रुपये इकट्ठे किए। कुछ लोगों ने पुरानी किताबें दीं, और कुछ ने समय देकर इस जगह को तैयार कराने में मदद की। दराजों को भरने के लिए मैंने कई नागरिक समाज संगठनों को पत्र लिखा। कुछ संगठनों ने थोड़ी-बहुत किताबें भेजीं। एक स्थानीय युवक जैक्रियास बड़ा ने किताबें, ओपन यूनिवर्सिटी की सामग्री और सरकारी परीक्षाओं की तैयारी के लिए उपयोगी संसाधन दिए। मेरे पास स्कूल की अपनी कुछ किताबें तो थीं ही, हिन्दी, बंगाली, अंग्रेजी और कुरुख की किताबें भी आ गई थीं।

*

अंश ने कुरुख की किताब देख हैरानी से पूछा, “दीदी, हमारी अपनी भाषा भी किसी पुस्तकालय में मिल सकती है?” कुरुख, उत्तर द्रविड़ भाषा समूह की एक भाषा है, जो उरांव समुदाय की संस्कृति, लोकगीतों और अनुष्ठानों से जुड़ी एक मौखिक परंपरा रही है। अब यह लिखी भी जाने लगी है। भारत में यह भाषा 20 लाख से भी कम लोगों द्वारा बोली जाती है, और यूनेस्को के ‘एटलस ऑफ एन्डेंजर्ड लैंग्वेजेज’ में कुरुख को एक संवेदनशील भाषा के रूप में दर्ज किया गया है। हमने सांस्कृतिक सत्र भी आयोजित किए। एक शाम हमने ‘कोड़ा रज्जी’ फिल्म दिखाई, जिसमें झारखंड से पश्चिम बंगाल और असम तक चाय बागानों में काम करने आने वाले आदिवासी समुदाय के लोगों के प्रवास की कहानी है। इसमें उनकी कठिनाइयों, चाय की पत्तियां तोड़ने के उनके तरीके, और परिवारों के यहां बसने की प्रक्रिया दिखाई गई थी। फिल्म खत्म होने के बाद एक बुजुर्ग उठे और बोले, “यह तो हमारी अपनी कहानी है।”

*

अब बच्चे स्कूल के बाद पुस्तकालय आने लगे हैं। यहां पढ़ते हैं और ट्यूशन सत्रों में भी शामिल होते हैं। हर सप्ताहांत कहानी सुनाना, रीडिंग सर्कल, लोकगीत और समूह अध्ययन जैसी गतिविधियां होती हैं। प्रधानाध्यापक ने कहा, “पुस्तकालय हमारे छात्रों को पढ़ने के लिए प्रेरित करता है और उन्हें वैसी किताबें उपलब्ध कराता है जो अन्यथा उनके पास नहीं होतीं।” ज्यादातर माता-पिता हमारा उत्साह बढ़ाते हैं। एक मजदूर, हेमलता टोप्पो ने कहा, “मैं चाहती हूं कि मेरे बच्चे पढ़ें और मुझसे बेहतर जीवन जिएं।” शिक्षक भी सहयोगी हैं। प्रमिला तिर्की ने मुझसे कहा, “हमारे कई बच्चों के घरों में किताबें नहीं हैं। अगर वे पुस्तकालय में समय बिताएंगे, तो उनकी पढ़ने की आदत सचमुच बेहतर होगी।”

बांस की बाड़ से घिरा यह छोटा सा कमरा किताबों से भरा पड़ा है, जो लोगों की मौजूदगी इसे जीवंत बनाती है। जब भी मैं यहां बच्चों को पढ़ते या गाते देखती हूं, मुझे एहसास होता है कि हमने इसे क्यों बनाया था। किताबें सिर्फ कागज से बना पुलिंदा नहीं होतीं। वह एक दरवाजा होती हैं। पहली बार, हमारे पास भी एक दरवाजा है। ■

अनुवाद: प्रतिमा। साभार: ruralindiaonline.org

सभी फोटो: सिमरन उरांव

समाज के लिए पुस्तकालय भले ही लोगों की मदद से चलता है, लेकिन इसकी भूमिका उम्मीद से कहीं बढ़कर रही है जिसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी। सब मिल-बैठकर विचार साझा करते हैं

बांस की बाड़ से घिरा यह छोटा सा कमरा किताबों से भरा-पूरा है। यहां बच्चों को पढ़ते या गाते देखकर एहसास होता है कि हमने इसे क्या सोचकर बनाया था। किताबें सिर्फ कागज से बना पुलिंदा नहीं होतीं। वह एक दरवाजा होती हैं। पहली बार हमारे पास भी एक दरवाजा है

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तमः
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051